सिद्धयोग

संस्थापक आचार्यवर
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

अक्टूबर १९६१

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।'
- भगवद्गीता ८-२७

वर्ष: २४

अंक : ७

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
संवाई, आगरा

प्रकाशक
देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते-सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

अक्टूबर
१९९१

इस अंक में पढ़िए

लेख	पृष्ठ
★ मामनुस्मर युध्य च: (प्रार्थना)	१
★ मेरे सर्वसमर्थ गुरुदेव और मेरा संकल्प (विशेष लेख) —ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
★ आभ्यान्तर शौच का महत्व (सम्पादकीय)	४
★ रमता जोगी बहता पानी .... —श्री दिव्य	७
★ दान का सद्उपयोग और दुरुपयोग .... —ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल	९
★ सत्य की प्रतीक—तीन देवियाँ .... —श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी	१५
★ सद्उपदेश .... —श्री विष्णुप्रसाद व्यास	१७
★ मानस-नीति-दर्पण (सुन्दरकाण्ड से संग्रहीत) .... —संग्रहकर्त्ता श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा, ग्वालियर	२५
★ सदा शिवस्वरूप मेरे सद्गुरु भगवान .... —डॉ० विजयसिंह	२८
★ मन से अमन चैन कैसे ? .... —श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए., आचार्य	३१
★ मस्त योगी .... —श्री रामानन्द 'दोषी'	३४
★ दुहाई—गुरुदेव दुहाई है (कविता) .... —श्री नूतन शर्मा, मेरठ	३५
★ वासना का लक्ष्य और योग प्राप्ति के उपाय .... —आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	३६
★ धारणा का लक्षण और स्वरूप .... —पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री	४५
★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् .... —स्वामी विरजानन्द सरस्वती	४७

एक प्रति ६ रु० वार्षिक मूल्य ४५ रु० ।

श्री विश्वेश्वराय नमः

श्री रामलाल प्रभवे नमः

श्री गुरु चन्द्रमोहनजी महाराज योग मन्दिर

गाँव–अलूपुर जिला–करनाल (हरियाणा)-१३२११३

के तत्वावधान में

-: जन्मोत्सव :-

आनन्दकन्द श्री गुरु चन्द्रमोहनजी महाराज का जन्मदिन इस बार श्री गुरु महाराज के जन्म स्थान ग्राम अलूपुर (वाया मतलौडा) जिला करनाल में मनाया जायेगा।

कार्यक्रम का विवरण

निम्न प्रकार है—

दिनांक १६-१०-१९९१ बुधवार

सायं ३ बजे से ५ बजे तक	....	संकीर्तन एवं भजनोपदेश
सायं ५ बजे से ६ बजे तक	....	यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन
रात्रि ९ बजे से अगले दिन प्रातः ५ बजे तक	....	संकीर्तन, भजनोपदेश एवं रात्रि जागरण

दिनांक १७-१०-१९९१ गुरुवार

प्रातः ७ बजे से ८ बजे तक	....	आरती-पूजन
प्रातः ८ बजे से ९ बजे तक	....	हवन-यज्ञ
प्रातः ९ बजे से ११ बजे तक	....	पूजन श्री गुरुजी महाराज

इस शुभ अवसर पर सभी भाई-बहिन सादर आमन्त्रित हैं। गाँव अलूपुर तक पहुँचने ठहरने एवं खान-पान का पूरा प्रबन्ध किया जायेगा। पानीपत तक सभी भाई-बहिन आसानी से पहुँच सकते हैं। पानीपत से मतलौडा तक (जो पानीपत-सफीदों-जींद एवं पानीपत-असन्ध-कैथल के ४५ मार्ग पर तथा पानीपत-जींद रेलवे मार्ग पर स्थित है) पहुँचने के अधिक साधन उपलब्ध हैं। मतलौडा से ग्राम अलूपुर ६ किलोमीटर की दूरी पर है। मतलौडा बस अड्डे पर गाँव की ओर जाने वाले मार्ग पर एक छोटा शामियाना लगाकर १५ तारीख की रात्रि से लेकर १७ तारीख को प्रातः तक आवभगत की सुविधा प्राप्त होगी। वहाँ से एक या डेढ़ घण्टे के पश्चात् वाहन की सेवा गाँव तक जाने के लिए उपलब्ध रहेगी।

पानीपत रेलवे स्टेशन पर भी १५ तारीख को रात्रि ९ बजे से अगले दिन प्रातः ९ बजे तक प्लेटफार्म से बाहर प्रतीक्षालय में एक बैनर लगाकर आने वाले भाई-बहनों के स्वागत का प्रबन्ध रहेगा।

शुभाकांक्षी :
समस्त गुरु भाई-बहिन

(कृपया पीछे भी पढ़िए)

भवदीय :
समस्त कार्यकारिणी

पत्र-व्यवहार के लिए पता :

१. लाला ताराचन्द गर्ग, आढ़ती, गौशाला मण्डी, पानीपत-१३२१०३ (उप-प्रधान)
२. चौ० अमरसिंह सरपंच, गाँव व डा० असूपुर (करनाल)-१३२११३ (उप-प्रधान)
३. लाला मोतीराम गर्ग, गाँव व डा० असूपुर (करनाल)-१३२११३ (कोषाध्यक्ष)
४. मास्टर वेदप्रकाश, गाँव व डा० असूपुर (करनाल)-१३२११३ (सहायक कोषाध्यक्ष)
५. पं० ताराचन्द, गाँव व डा० असूपुर (करनाल)-१३२११३ (सदस्य)

मन्दिर की संस्था का खाता ओरियण्टल बैंक ऑफ कामर्स, ग्राम इसराना (करनाल) में खोला गया है। जो भी भाई-बहिन संस्था में योगदान देना चाहें, वे या तो मन्दिर निर्माण हेतु या जीर्णोद्धार हेतु संस्था के नाम पर रेखांकित चैक या ड्राफ्ट द्वारा सीधे मैनेजर ओरियण्टल बैंक ऑफ कॉमर्स, इसराना जिला करनाल-१३२१०७ को भेजें। मैनेजर, कोषाध्यक्ष लाला मोतीराम को सूचना देने की भी कृपा करें।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४ अङ्क ७	ध्यानं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तस्मात्प्रचार्यं बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥	अक्टूबर १९९१

—: मामनुस्मर युध्य च :—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

—गीता ८/६

अर्थात्

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; परन्तु सदा उस ही भाव को चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भाव का चिन्तन करता है, अन्तकाल में भी प्रायः उसीका स्मरण होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

—गीता ८/७

अर्थात्

इसलिए हे अर्जुन ! तू सब समय में (निरन्तर) मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मेरे में अर्पण किये हुए मन, बुद्धि से युक्त हुआ निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा।

विशेष लेख :-

ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मेरे सर्वसमर्थ गुरुदेव और मेरा संकल्प

[सन् १९९१ की विजयादशमी के पावन पर्व पर, जो श्री गुरुदेवजी के जन्म दिवस के रूप में हमारे सामने है, उचित समझते हैं कि हम गुरुदेव के उस पावन संकल्प को यहाँ उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करें जिसे उन्होंने अपने गुरुदेव जी द्वारा निर्देशित योग-प्रचार के प्रशस्त पथ को आगे बढ़ाने का संकल्प उनके लीलाकाल में ही लिया था। "आठ योगी" नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में पूज्य श्री गुरुदेव चन्द्रमोहन महाराजजी ने इस बारे में जो लिखा है, उसे पढ़िए उन्हीं के शब्दों में इस लेख में।

श्री गुरुदेव जी के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् अब यह सवाई आश्रम से सम्बन्धित सभी शिष्यों का पावन कर्तव्य है कि वे अपने गुरुदेव के संकल्पों को जिन्हें वे अधूरा छोड़ गये हैं, शक्ति-भर सच्चे मन से आगे बढ़ाने का प्रयास करें। —सम्पादक]

श्री सद्गुरुदेव योगयोगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज के पवित्र चरणारविन्दों में आने के पश्चात् ज्यों-ज्यों योगविद्या की महत्ता का ज्ञान मुझे हुआ, तब से ही संसार में योग-प्रचार करने के भाव मेरे मन में विद्यमान रहा करते थे। परम कृपा-निधि जी के असीम अनुग्रह से मेरी यह इच्छा अब पूर्ण हो रही है। जिन लोगों ने उन योगयोगेश्वर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का सान्निध्य प्राप्त किया है, वे सब परम पुण्यशाली रहे। परन्तु जो प्राणी उस महान शक्तिके केन्द्र परम प्रभु के स्थूल दर्शनों से वंचित रहे हैं तथा उनके लीला-काल के अवसर पर उपस्थित नहीं थे, उन लोगों को भी किसी प्रकार उन श्रीप्रभुजी की दिव्य एवं चमत्कारिक लीलाओं का परिचय मिल सके—ऐसी तीव्र लगन भी मेरे मन में रहा करती है। अतः श्री प्रभुजी के लोककल्याणकारक पावन-चरित्रोंको, जिन्हें मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है, लेखनीबद्ध करके लोक के सम्मुख लाने का मेरा यह तृतीय प्रयास है। इस प्रयास का प्रथम पुष्प 'ब्रह्मचारी गोपालानन्द के ध्यानानुभव' और द्वितीय पुष्प 'सवाई के चमत्कारिक चरित्र' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इन प्रयासों का उद्देश्य है कि जनसाधारण—उन पावन चरित्रों को पढ़कर पवित्र योगमार्ग की ओर प्रवृत्त हो सके एवं योगियों की अद्भुत शक्तियों का भी परिचय वे पा सकें। प्रस्तुत पुस्तक 'आठ योगी' में श्री प्रभुजी की पूर्ण कृपा के प्रतीक आठ सन्तों का सत्य एवं

मन्न जैसा अन्न हम खायेंगे हमारा मन निश्चित रूप से वैसा ही बनेगा, यह जनश्रुति परम्परा से हम सुनते चले आ रहे हैं। यह जनश्रुति हमारे आहार-सिद्धान्तों का अनुभूत निष्कर्ष है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी गीता में सात्विक और निर्मल आहार पर विशेष बल दिया है। अध्याय १७ में उन्होंने शुद्धिपूर्वक बनाये सात्विक आहार के सेवन को आयु, बुद्धि, बल आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला बताया है। यथा :

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः

गीता १७–८

हमारे पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी तो प्रायः कहा करते थे कि केवल आहार की शुचिता को ध्यान में रखना ही जरूरी नहीं है बल्कि यह देखना और जानना भी जरूरी है कि जिस आहार का लोग सेवन करते हैं वह शुद्ध पवित्र साधनों द्वारा उपार्जित भी है या नहीं ? गुरु नानक देव के जीवन काल का वे अपने प्रवचनों में उदाहरण देकर बताते थे कि किस प्रकार अपने शिष्यों को एक ठेकेदार के घर से आये पकवान के थाल में से कुछ पूड़ियाँ लेकर दबाने पर उनमें से उन्होंने खून की धार निकलते देखकर हुए समझाया था कि ठेकेदार का यह सब आहार उसकी अनुचित कमाई का है, इसीलिए इसमें से खून निकला है, अतः यह खाने योग्य है ही नहीं। इसे आदमियों को न देकर पशुओं को दे दिया जाय। ऐसा ही किया भी गया था। मन और बुद्धि को निर्मल और स्वस्थ बनाने में आहार की स्वच्छता और पवित्रता पर गुरुदेव स्वयं सदा बहुत ध्यान दिया करते थे।

योगदर्शन के साधनपाद के सूत्र संख्या ४१ में शौच की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए पुनः कहा गया है कि आभ्यान्तर शौच की सिद्धि से चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों का जीतना और आत्म-दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। पढ़िए सूत्रकार के शब्दों में ही आन्तरिक शौच सम्बन्धी इस सूत्र को—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च

—योग-दर्शन २–४१

ऊपर हम यह लिख चुके हैं कि मन आन्तरिक इन्द्रिय है और देह द्वारा होने वाली सभी क्रियाओं का संचालन सूत्र इस के अस्तित्व पर ही निर्भर रहता है अतः शुद्ध आहार द्वारा इसको सक्षम, सबल और स्वच्छ बनाना योग-पथ के साधकों का प्राथमिक दायित्व बन जाता है।

आहार शुचिता पर ध्यान रखते हुए बाह्य शौचके सोपानसे आगे आन्तरिक शौच की ओर जब साधक बढ़ने लगता है तब मन पुष्ट सात्विक और

यथार्थ कथायें लेखनी बद्ध की गई हैं। यह कथायें इतनी अद्भुत हैं कि पाठकोंको आश्चर्य होना असम्भव नहीं। पाठकों को तो यहाँ तक शंका हो सकती कि इस घोर कलिकाल में ऐसा होना सम्भव ही नहीं हो सकता। किन्तु निःसंदेह यह कथायें काल्पनिक नहीं अपितु मेरे नेत्रों की स्वयं दृष्ट घटनायें हैं। सद्गुरुदेव योगयोगेश्वर आनन्दकन्द श्रीप्रभुजी के आदर्श जीवन-इतिहास का यह एक अंश है। इस प्रकार के अनेक प्राणी उनके असीम अनुग्रह से कृतकृत्य हो गये हैं जिनके विषय में कई बार पता भी नहीं चल पाता और वे परम-विरक्त-भाव से हिमालय की कन्दराओं में बैठे रहते हैं।

इन कथाओं को पढ़ने से पूर्व पाठकों को योग-सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करके अपने मन में इन सिद्धान्तों की सत्यता एवं अकाट्यता को ले आना परमावश्यक है। तभी ऐसी अद्भुत लीलाओं का वर्णन उनके मन को शंकित नहीं कर सकेगा। योग विद्या के अभ्यास के द्वारा हम कितनी बड़ी-बड़ी शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं तथा एक पूर्ण योगी की कितनी बड़ी सामर्थ्य हो सकती है—इन सबका परिचय इन कथाओं को पढ़कर साधारण पाठक भी प्राप्त कर सकेगा।

पाठकों को शंका हो सकती है कि ऐसे सामर्थ्यवान् सिद्ध योगिराज किस प्रकार भू-मण्डल पर अवतरित हो गये? जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण जी ने गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से संसार में अपने अवतार धारण करने के तीन प्रयोजन बताये हैं। पहला परित्राणाय साधूनाम्' दूसरा 'विनाशाय च दुष्कृताम्' और तीसरा प्रयोजन 'धर्म संस्थापनार्थाय' है। हिमालय में रहने वाले परम योगाचार्यगण सर्वसमर्थ परन्तु अनन्त दयानिधान एवं प्राणिमात्र का सदैव हित चाहने वाले महासिद्ध होते हैं। उन्हें संसार में जन्म-धारण करने की आवश्यकता नहीं होती, संसार से कुछ लेने का भी प्रयोजन नहीं होता और न कर्म करने का ही कोई बन्धन होता है। किन्तु धर्म की स्थापना हेतु इन्हीं महापुरुषों में से कोई-कोई विरले सन्त जगत्-कल्याण-रत बनकर आ ही जाया करते हैं और उनकी वरदशीतल छाया में अनेकों प्राणी तीनों तापों से मुक्त होकर कृतार्थ हो जाते हैं।

हमारे सद्गुरुदेव आनन्दकन्दप्रभु श्रीरामलालजी महाराज भी सिद्धाश्रम में वास करने वाले हिमालय के सिद्धों में से एक हैं। जिन्होंने सुख-दुख, जीवन-मरण के द्वन्द्वों में फँसकर कुलबुलाते हुए प्राणियोंको देखा और परम करुणापूर्ण रूप बनाकर उनके दुखों की निवृत्ति के लिए इस भूतल को कुछ काल के लिए सुशोभित किया। यहाँ आकर लुप्त प्रायः योग विद्या का उच्चतम प्रचार करना ही उनका उद्देश्य रहा। उन्हीं जन-हित-रत दीनबन्धुश्रीके यह पावन चरित्र है। आशा है इस पुस्तक के वे सभी पाठक अपने को योग-निष्ठ बनाने का प्रयत्न करेंगे जिन्होंने परम पवित्र योग-मार्ग का अवलम्बन ले लिया है। समझना चाहिए कि उन्होंने कल्याण के अमृत-स्रोत को पा लिया है। योग मार्ग से बढ़कर श्रेष्ठतम् मार्ग अन्य नहीं है, विश्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तते' कहकर योग की सर्वोत्कृष्टता को पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया है। अर्थात् जो योग के सच्चे जिज्ञासु भी बनेंगे, उन सब की स्थिति अन्य सभी कर्मकाण्ड करने वाले भक्तों से उन्नत रहेगी। अतः परम श्रेयस को प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्यों को योग-मार्ग की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। इन कथाओं का पठन करने वाले भक्तों के मन में आनन्द कन्द श्रीप्रभुजी के चरण-कमलों के प्रति निष्ठा और दृढ़ होगी और वे सब प्रकार से कल्याण को प्राप्त करेंगे, ऐसी मेरी इच्छा है। ॐ

सम्पादकीय—

आभ्यान्तर शौच का महत्व

योग-साधकों को समाधि सिद्धि के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधना के जिन सोपानों को पार करना आवश्यक रहता है उनमें आभ्यान्तर शौच की सिद्धि का विशेष महत्व है। यों तो योग-दर्शन के साधन पाद में जहाँ नियमों का उल्लेख महामुनि पतंजलि ने सूत्र संख्या ३२ में किया है, वहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सूत्र में पाँच मानवीय नियमों में से पहले स्थान पर 'शौच' को रखा है। यथा—

शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

योगदर्शन २/३२

इसका आशय यही है कि सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियमों के व्रतानुष्ठान से पहले साधक को 'शौच' की ओर मुख्य ध्यान देना चाहिए। यद्यपि साधक को सभी नियमों का परिपालन जरूरी रहता है किन्तु शौच यानी शुचिता की ओर उसका ध्यान सर्वोपरि जाना चाहिए।

शौच के दो रूप बताये गये हैं। एक बाह्य शौच और दूसरा आभ्यान्तर शौच। शरीर में आहार जलपान आदि के सेवन के परिणामस्वरूप जो इन्द्रिय-छिद्रों द्वारा मल निसर्जन होता रहता है, उसे हम नित्य के स्नान अथवा प्रक्षालन द्वारा मिट्टी, जल आदि का सहारा लेकर दूर करते रहते हैं, नित्य उपयोग में आने वाले वस्त्रों का मल भी हम सब सामाजिक प्राणि होने के नाते और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए वश या बेवश करते ही रहते हैं। शरीर को स्वच्छ रखने और उसे रोगों से बचाये रखने के लिए भी यह बाह्यशौच की क्रिया करना अनिवार्य रहता है। रोगी और अस्वस्थ शरीर से तप, स्वाध्याय या ईश्वर-प्राणिधान जैसा कल्याणकारी क्रियायोग हो ही नहीं सकता। इसलिए साधकों को बाह्य शौच के साथ ही आभ्यान्तर शौच पर भी विशेष ध्यान देना जरूरी रहता है। आभ्यान्तर शब्द का अर्थ होता है अन्दर या अन्तर मन की शुद्धि। मन आन्तर इन्द्रिय है। मन के द्वारा ही अन्य सभी इन्द्रियों का कार्य सम्पादन होना सम्भव हो है, इसलिए आभ्यान्तर शौच के लिए मन की शुचिता मुख्य बताई गई है। चूंकि मन का निर्माण हमारे आहार के सूक्ष्मतम अंशों से होता है अतः जितना पवित्र और सात्विक हमारा आहार होगा, हमारा मन भी उसी अनुपात में स्वच्छ और पवित्र बनेगा। जिनका ध्यान मन की शुचिता पर रहता है वे आहार की शुचिता पर सदा ध्यान देते रहते है। यथा अन्न तथा

रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित वानी—
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी' ॥ —दिव्य

जोगी रमताराम ने एक संध्या को जहाँ अपना ध्यान-शिविर लगाया था वह स्थान राजस्थान की सीमा में आता था। वह राजस्थानी साधकों की सुविधा के लिए ही लगाया गया था। शिविर में राजस्थानी साधकों की संख्या अधिक होना स्वाभाविक ही था।

× × ×

ठीक समय पर योगी रमताराम ने सभी साधकों को गहरे ध्यान में बैठ जाने का आदेश दिया। निस्तब्ध वातावरण में पूरे चार घण्टे ध्यान टूट जाने पर सभी को बारी-बारी से अपने ध्यानानुभव सुनाने का आदेश दिया। शान्तिपूर्वक उन्होंने सबके ध्यानानुभव सुनकर उन्हें उनके प्रतिफल और परिणाम से अवगत कराया और आगे के लिए दिशाबोध भी दिया। उन्होंने कहा—साधक तुम्हारा ध्यान में तुम्हारा मन जब ध्येय विषय से हटकर इधर-उधर भटके तब तुम्हें बरबस उसे पकड़कर ध्येय विषय पर ही टिकाने की चेष्टा करनी चाहिए। अभ्यास और वैराग्य की रस्सी से तुम अपने चंचल और भटकने वाले मन को पकड़ने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए। ध्यान की सफलता की यही एकमात्र कुञ्जी है।

× × ×

रमता जोगी आगे कुछ और कहते इससे पूर्व ही मरुधर निवासी एक साधक बच्चा उठा और बोला—महाराज मैं तो आज मरते-मरते बच्या हूँ। ऐसे ध्यान को मैं क्या करूँ जावें मेरी जाण ही चली जाय? योगीजी ने पूछा बेटे बताओ तो क्या हादसा हुआ?

× × ×

वह बोला—महाराज सुणो आँखें बन्द करते ही मैंने देख्यो, मैं एक ऊँट पर बैठा हुआ अपने एक दोस्त के ओसणवार में शामिल होने जा रहा था। यह ऊँट अच्छो सीधो था। मेरे पिताजी रोज ही इस पर सवारी किया करते थे। कभी इसने कोई खटपट नहीं की। लेकिन पिताजी की अनुपस्थिति में आज सवेरे मैं जब इसकी पीठ पर बैठकर इसे चलाने लग्या तब यह ऊँट मेरी मरजी से नहीं बल्कि अपनी मरजी से चलने लग्या। कभी मुझे काँटेदार बबूलों के झुरमुटों में ले जाता तो कभी झाँस और करीलों की काँटे वाली कतारों से टकराने लग्या। कभी उछलता-कूदता, तब मुझे ऐसा लग्या मानो किसी झाड़ी के झुरमुट में पटकसी मेरो अन्त ही कर देगा। मेरे बहुत डाँटने पर भी यह काबू में नहीं आता था। क्या करूँ, कैसे उतरूँ, इसकी पीठ पर से? मैं इसी पशोपेश में था तभी सामने से एक ऐसो आदमी आ निकल्यो जिसके सिर पर हरे नीम की पत्तियों का एक गट्ठर लदा था। इसने मेरी

बेवशी को भांप लियौ और यह भी उसने जान लियौ कि ऊँट बे-नकेल का है, इसीलिए अपने युवक सवार का कहना न मानकर उसे इधर-उधर जहाँ चाहता है ले जाता है और इसे लेकर कहीं गिरा देना चाहता है।

ऐसौ जानकर उस नवागन्तुक ने अपने सिर का गट्ठर तुरत ऊँट के सामने पटक दियौ। अपना मनचाहा आहार सामने देखकर ऊँट उसे खाने लग गया। आहार पर्याप्त था इसलिए भरपेट खाने के लिए ऊँट अपने आप बैठ गया। उसे बैठते ही उस नवागन्तुक व्यक्ति ने मुझे तुरत हाथ पकड़कर उसकी पीठ से नीचे उतार लियौ और मुझे डाटते हुए बोला, ना समझ भोले युवक ! क्या तुझे मालूम न था कि जिस ऊँट पर तू सवार है उसके नकेल ही नहीं है। बिना नकेल हाथ में लिये तू ऊँट को अपनी मर्जी से चलाना चाहता है, यह कभी सम्भव हो ही नहीं सकता। जा तेरी जान बच गयी। आगे ऐसी भूल कभी नहीं करना।

× × ×

साधक युवक ने कहा—महाराज यह मेरा ध्यानानुभव है। आप बताइए मेरे इस भयानक से ध्यानानुभव का क्या अभिप्राय है ?

× × ×

योगी रमताराम बोले—ठीक है बेटा। मैं जो कह रहा हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनो ! नवागन्तुक व्यक्ति और कोई नहीं तुम्हारे अपने सद्गुरु ही थे। उन्होंने नकेल और संक्षेप रूप में तुम्हें इस तत्व को समझाने की चेष्टा की है कि मन रूपी ऊँट पर तुम सदा सवारी किया करते हो। क्योंकि यह ऊँट तुम्हारे काया-रूपी आँगन में सदा सुलभ रहता है इस पर सवारी करते समय तुम संयम और निग्रह रूपी नकेल से इसे नाथ लेना भूल जाते हो और यह भी भूल जाते हो कि संयम और निग्रह रूपी नकेल का सिरा सदा तुम्हारे अपने हाथों में होना चाहिए। जब ऐसा होगा तभी यह मनरूपी ऊँट तुम्हें यथास्थान पहुंचा सकेगा, नहीं तो कटीली झाड़ियों में उलझकर तुम्हारे जीवन का ही अन्त कर डालेगा। तुम्हारे ध्यानानुभव का यही आशय है। सद्गुरु ही तुम्हें नवागन्तुक के रूप में दिखाई दिये थे।

श्री गुरुचरणों में समर्पित

● श्री कुन्दनलाल अग्रवाल

हे मेरे गुरुदेव करुणा सिंधु करुणा कीजिए।
हूँ अधम अधीन अशरण आप शरण में लीजिए ॥१॥ हे मेरे····
खा रहा गोते हूँ मैं भव-सिन्धु की मझधार में।
आसरा है दूसरा कोई न अब संसार में ॥२॥ हे मेरे····
पाप बोझों से लदी नौका भँवर में आ रही।
नाथ दौड़ो अब बचाओ जल्द डूबी जा रही ॥३॥ हे मेरे····
आप भी यदि छोड़ दोगे फिर कहाँ जाऊंगा मैं।
जन्म दुःख से नाव कैसे पार कर पाऊंगा मैं ॥४॥ हे मेरे····
सब जगह मंजुल भटक कर ली शरण प्रभु आपका।
पार करना या न करना दोनों मर्जी आपकी ॥५॥ हे मेरे····

स्वर्ग और नरक का कारण बन जाता है–

ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल

दान का सद्उपयोग और दुरुपयोग

[दान-प्रथा हमारी धार्मिक प्रवृत्ति और भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। बड़े-बड़े लोक-कल्याणकारी संस्थानों का संचालन भी दान से प्राप्त धनराशि द्वारा होता हुआ देखा जाता है। लेकिन यह दान के सद्उपयोग पर ही निर्भर रहता है, प्रतिकूल इसके, दान के धन का दुरुपयोग दाता और गृहीता दोनों के लिए अकल्याणकर बन जाता है, इसी तत्व को समझाने का प्रयास किया है प्रस्तुत लेख में सुधी लेखक बंधु ने।

—सम्पादक]

हमारे परम पूज्य ब्रह्मलीन सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज प्रायः अपने निकटतम आश्रम वासी शिष्यों को सावधान करते हुए कहा करते थे, "सत्ता दान दिये हुए धन का उपयोग दान दाता की इच्छा के अनुसार ही करना चाहिए तथा जो दान दिए हुए धन का भी दान करता है, उस का कल्याण होता है। यथा "दान का भी दान, करे महान कल्यान" और गुरुदेव स्वयं ऐसा ही करते भी थे, और दान का सदपुयोग भी यही है। दान के धन का जो स्वयं भोग करता है वह दान का दुरुपयोग करता है तथा इसके फलस्वरूप वह दुर्गति को प्राप्त होता है। इसे थोड़ा समझें: मैंने पढ़ी थी एक हंस-हंसनी और बाल हंस की वार्ता जो निम्न प्रकार थी :

'एक हंस-हंसनी और और बाल हंस मानसरोवर की ओर उड़ते हुए यात्रा कर रहे थे। "हंसनी ने मार्ग की थकावट भूख और प्यास से व्याकुल होकर "अकुलाहट भरे स्वर में हंस से कहा—'मानसरोवर अभी कितनी दूर है, मेरे तो पंख अब जवाब दे रहे हैं', अपनी माँ की बात का अनुमोदन करते हुए बाल हंस ने कहा—हाँ तात! मेरा भी अंग-प्रत्यंग मार्ग की थकान से चूर-चूर हो रहा है।"

'हंस ने प्रेमपूर्वक सांत्वना देते हुए कहा, मानस अभी दूर है। शरीर की शिथिलता के साथ-साथ मन को शिथिल न होने दो। मानसरोवर के मोती और जल के अतिरिक्त हम लोग अन्य कुछ ग्रहण भी तो नहीं कर सकते! लेकिन चलो, उस ऊँचे घने वृक्ष पर बैठकर थोड़ा विश्राम करके थकान को उतारें।'

इतने में बाल हंस पशु-पक्षियों के कोलाहल को सुनकर बोला, माँ-माँ! तात-तात! यह कोलाहल कैसा? पास में ही विभिन्न पशु-पक्षी किसी पड़ी हुई वस्तु को नोंच-खसोट

रहे थे, और क्रोधित हो-होकर एक-दूसरे पर झपट भी रहे थे।

हंस ने समझाया—"वत्स, वहाँ कोई पशु-मर गया है। श्वान, शृंगाल, गीध, चील, कौवे आदि पशु-पक्षी उस मृत पशु के शव को नोच-नोच कर खा रहे हैं। ये स्वयं तो खाते हैं, लेकिन एक को दूसरे का खाना नहीं भाता इसीलिए गुर्राते व परस्पर एक दूसरे पर बीच-बीच में आक्रमण भी करते जाते हैं। हंस ने कहा—वत्स, "मैं एक सन्त-महन्त के सुरम्य आश्रम में एक वृक्ष पर बैठा हुआ था वहाँ मैंने दो पैरों से सीधे चलने वाले मनुष्य शरीर धारण किए हुए पशुवत् लड़ते-झगड़ते हुए अपने को मनु की सन्तान कहने वालों को भी—इसी प्रकार अपनी आँखों से भी देखा, कानों से सुना। अकेले खाना और दूसरों को न खाने देना—परस्पर गुर्राना, लड़ना उन्होंने भी अपना स्वभाव बना लिया था। वत्स इन दोनों का लड़ना, झगड़ना तो एक जैसा ही है लेकिन भेद दो पैर और चार पैर वालों का है।

बाल हंस के निर्मल मन व विवेक युक्त बुद्धि में यह छल-प्रपंच की लड़ाई-झगड़े की बातें समा न सकीं। उसने विस्मयपूर्वक प्रश्न किया, "ये मोती क्यों नहीं चुगते हैं तात! मुर्दे क्यों खाते हैं?"

हंस ने फिर समझाया, "दूध का दूध और पानी का पानी का विवेकपूर्ण निर्णय लेना तथा भूख प्यास से व्यथित होने पर भी अभक्ष्य ग्रहण करने की इच्छा तक न करना, और जब भी मिलें, विमल मोतियों को चुग-कर ही अपना उदर-पोषण करना तो हम विवेकी हंसों का ही काम है वत्स! ये माँस-भक्षी पशु-पक्षी तो मुर्दा का माँस खाकर ही खुश हैं बेचारे विवश हैं, अपने स्वभाव और पूर्व जन्म के संस्कारों से। अपने पिछले जन्म में सब दो पैरों वाले जानवर मनु के पुत्र थे। अगर ये मान सरोवर में भी रहें तो भी स्व-भाववश मोती न चुगकर वहाँ भी मुर्दे ही खायेंगे।"

"बिना कुछ परिश्रम किए, या बदले में कुछ दिये बिना, अथवा देने के नाम पर कुछ थोड़ा-सा नाम-मात्र देने का धोखा देकर, जो सभी कुछ हथियाने में लगे रहते हैं, वे पशु योनि में जाने की फिर तैयारी कर रहे होते हैं, मुफ्त का माल, दान का धन खाना महा पाप है। प्रकृति के विधान के अन्तर्गत ऐसे लोग नरक में अपने पापों का दण्ड भोगते हैं—अपने पूर्व जन्म में मुर्दे के माँस के समान मुफ्त का माल, पिता की गुरु की सम्पत्ति के हड़पने के फलस्वरूप अब साक्षात् मुर्दों का भोजन कर रहे हैं।" क्योंकि मरे हुए बाप, या मरे हुए व्यक्ति की सम्पत्ति को अकेले हड़पने का अर्थ मुर्दे का माँस खाने जैसा है।

"छिः! छिः! छिः! कितना गन्दा, नीच पशु की ही तरह है मनु का यह पुत्र। मनुष्य ऊपर से तो मनुष्य दीखता है लेकिन भीतर से पशु से भी बदतर है।" बाल हंस ने दुःखी होकर टिप्पणी की।

"व्यवहार यदि पशुवत हो तो ऊपर से मनुष्य कहाँ। यह तो धोखा है वत्स! देखो न, बगुला ऊपर से सफेद ही होता है। कपटपूर्वक आँखें बन्दकर ऐसे खड़ा रहता है जल में, मानो ध्यान में लीन हो। लेकिन मछली आते ही उस पर झपट पड़ता है। ऐसे ही गीध को देखो, कितनी ऊँची उड़ान भरती है। लेकिन दृष्टि इसकी भूमि पर पड़े मृत जानवर पर ही रहती है। ऐसे ही मनु का

यह पुत्र भी कभी बगुले की तरह ध्यान करने का ढोंग करता है तो कभी गीध की तरह तथा-कथित ज्ञान की ऊँची उड़ानें भरता है, लेकिन मन उसका स्वार्थ में ही लगा रहता है।' हंस ने स्पष्ट किया।

बालहंस ने पुनः जिज्ञासा की, "क्या मनु ने अपने पुत्रों को बुद्धि नहीं दी तात ?"

हंस ने फिर कहा, 'दी क्यों नहीं वत्स ! बहुत ऊँची बुद्धि दी है। परन्तु मनु पुत्र ने सर्वदा उसका दुरुपयोग किया है। सदुपयोग तो कोई-कोई ही कर पाते हैं। ऊँची बुद्धि से उचित-अनुचित के ऊँचे निर्णय लेने के बजाय, उसने उसे अपने अनैतिक कार्यों को नैतिक तथा स्वार्थ के कार्यों को परमार्थ ठहराने के लिए अपने पक्ष में कुतर्क गढ़ने में, सत्य को झूठ और झूठ को सत्य बताने में लगाया। जिससे बात करो तो उसके पास अपनी हर बदनीयती व बेईमानी को--अधर्म को ढकने के लिए चमचमाते कुतर्क हैं।"

बालहंस का विस्मय व कौतूहल और भी अधिक बढ़ा। बोला, "तात ! प्रकृति के आदान-प्रदान व क्रिया-प्रतिक्रिया के विधान का खेल तो बड़ा श्रेष्ठ है साथ ही मनु पुत्र की मानसिकता कितनी दयनीय है।' निन्दनीय है ?"

हंसने कहा, "हाँ वत्स ! दूसरों को धोखा देने वाला स्वयं धोखा खाता है। विधि-विधान को धोखा देने की जरा भी कोशिश की, उसके नियम सिद्धान्तों को जिसने भी तोड़ा-मरोड़ा प्रकृति उसे दण्ड देने में कभी नहीं चूकती। दूसरों के प्राप्तव्य, विशेषकर गुरुजनों की व सार्वजनिक धन-सम्पत्ति के लालच में बगुला की तरह ध्यान करने या गीध-दृष्टि रखने की भीषण प्रतिक्रिया का एक दृष्टान्त सुनाऊँ तुम्हें वत्स ! "एक समय की बात है जब तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ था यह तब की बात है। मैं एक ऋषि के आश्रम में तुम्हारी माँ के साथ एक ऊँचे पेड़ पर बैठा हुआ था। ऋषि अपने शिष्यों को दान के विषय पर उपदेश दे रहे थे। फिर उन्होंने महर्षि बाल्मीक द्वारा वर्णन की गई भगवान राम के राज्य-संचालन से सम्बन्धित एक रोचक व प्रेरक घटना सुनाई। यह उत्तर-काण्ड सर्ग एक की कथा है। वही मैं तुम्हें सुना रहा हूँ वत्स !

"महाराज राम एक दिन राज-सभा में बैठे थे। उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि बाहर देखो, कोई फरियादी हो तो उसे सभा में सादर लिवा लाओ।

लक्ष्मण विनय पूर्वक बोले, "आपके राज्य की सुव्यवस्था पर तो आज इन्द्र भी लज्जित है। प्रजा हर प्रकार से सुखी व समृद्ध है। तब फरियाद और फरियादी का प्रश्न ही कहाँ है महाराज।"

अन्तर्यामी राम मुस्कराये और बोले, "फिर भी बाहर जाकर एक दृष्टि डाल लो। कहीं ऐसा न हो कि न्याय पाने की लालसा में आया हुआ कोई फरियादी निराश होकर लौट जाय।"

लक्ष्मण ने आदेश का पालन किया। बाहर आये। द्वार पर एक कुत्ता फरियादी के मुद्रा में खड़ा था। उसका मस्तक फूटा था तथा उससे खून बह रहा था। उसने महाराज राम से अपनी विनय करने की अनुमति माँगी। लक्ष्मण ने उसे दरबार में उपस्थित कर दिया।

कुत्ते ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया, "हे नृप श्रेष्ठ ! आपके राज्य में सर्वार्थ सिद्ध नाम

के ब्राह्मण ने मेरे मस्तक पर डण्डे से प्रहार किया है। बिना किसी अपराध के

मामला गम्भीर था महाराज राम ने ब्राह्मण सर्वार्थसिद्ध को तुरन्त राजसभा में बुलवाया और उससे पूछा कि इस कुत्ते ने आपका क्या अपराध किया था जो आपको इसे पीटना पड़ा ?

ब्राह्मण लज्जित हुआ और पश्चात्ताप करता हुआ बोला, "हे महाराज! क्रोध एक तलवार की तरह मनुष्य के सारे तप, यज्ञ, भजन, ध्यानादि कार्यों को क्षण भर में नष्ट कर देता है। मैं भूखा था, भिक्षा हेतु भटक रहा था और यह कुत्ता बार-बार मेरे मार्ग में आ जाता था, मुझे क्रोध आ गया और इस पर डंडे से प्रहार करने का अपराध मैं कर बैठा। मुझे उचित दण्ड देकर मेरे क्रोध के पाप से मुझे मुक्त करें महाराज।"

श्रीराम ने सभासदों से परामर्श किया। ब्राह्मण उस युग में अपराध करता ही नहीं था, अतः राष्ट्र संविधान में उसे दण्डित करने का कोई प्रावधान नहीं था। लेकिन अब तो ब्राह्मण ने अपराध किया था, अतः अपराधी को दण्ड न देना राज धर्म के विरुद्ध था। अभूतपूर्व संवैधानिक संकट की स्थिति ने महाराज राम व सारी राज्य सभा को किंकर्तव्यमूढ़ कर दिया।

कुत्ता शान्त खड़ा यह सब देख रहा था। धीरे से बोला, "महाराज! मैं आपके असमंजस को समझ रहा हूँ। मेरा निवेदन है कि कृपया इस ब्राह्मण को दण्ड के रूप में किसी मठ या आश्रम का महाधीश या महन्त बना दिया जाय।"

अन्तर्यामी राम मन ही मन मुस्कराये और बोले, विचित्र फरियादी हो तुम। एक ओर तो उसके विरुद्ध शिकायत कर रहे हो और दूसरी ओर स्वयं अनुशंसा कर रहे हो कि दोषी अपराधी को राजा की गद्दी की भाँति धन ऐश्वर्य से युक्त किसी महन्त की गद्दी पर बैठाकर उसे मठाधीश बना दिया जाय।

कुत्ते ने फिर निवेदन किया—"मैंने उचित ही परामर्श दिया है महाराज। राजा को चाहिए कि यदि किसी को पुत्रों बन्धु-बान्धवों एवं पशुओं समेत नरक में गिरा देने की उसकी इच्छा हो तो उसे वह देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुजनों एवं गौओं के धन का अधिष्ठाता बना दे। क्योंकि जो भी व्यक्ति किसी देवता, ब्राह्मण, गुरु सन्त की सम्पत्ति का हरण छल, बल से मुफ्त में उपभोग करने का विचार भी मन में लाता है तो वह निश्चय ही एक नरक से दूसरे नरक में गिरता है।"

मनसा पि हि देवस्वं
ब्रह्मस्वं च हरेत्तु यः ।
निरयान्निरयं चैव
पतत्येव नराधमः ॥

उस अद्भुत कुत्ते की ज्ञानयुक्त बातें सुनकर सभी उपस्थित जन स्तब्ध थे। राम मुस्करा रहे थे। कुत्ते ने आगे कहा, 'महाप्रभो, मठाधीश बनकर यह ब्राह्मण जनता द्वारा दिये गये दान के धन से वैभव और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करेगा। बिना कमाई किये हराम का धन खाकर इसकी बुद्धि भ्रष्ट होगी और स्वयं ही अधोगति को प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार आप इसे दण्ड देने की संवैधानिक समस्या से मुक्त हो जायेंगे और यह स्वयं अपने को दण्डित कर लेगा।

कुत्ता कुछ देर शान्त और अधिक गम्भीर मुद्रा में खड़ा रहा। फिर दुःख भरे धीमे स्वर

में बोला, "महाप्रभो ! मैं अपने पूर्व जन्म में वैभवशाली कालिंजर मठ का मठाधीश था।"

बाल हंस ने शंका प्रकट की, "तात ? यह तो स्पष्ट हो गया कि दुराम का मुफ्त का धन घोर पतनकारी है। लेकिन महर्षि वाल्मीकि ने तो ब्राह्मण व देवता के धन तथा गौधन के उपभोग को ही पतनकारी कहा है।"

हंस ने समझाया, "वत्स ! आदान-प्रदान के नियम का उल्लंघन कर बिना प्रदान किये कुछ भी लेना पतनकारी है। रही ब्राह्मण की बात, ब्राह्मण वह व्यक्ति है जो ब्रह्म विद्या, अर्थात् मनुष्य के आत्मिक उत्थान की अध्यात्मक विद्या को प्राप्त करने और फिर उसका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद समाज के उत्थान की सेवा हेतु उस विद्या के प्रचार-प्रसार में अपना सारा समय व सारी शक्ति लगाता है। प्राचीन काल में ब्राह्मण अपने भरण-पोषण के लिए कोई धन्धा आदि नहीं करता था। समाज की सेवा के बदले समाज से भिक्षा प्राप्त कर वह अपनी गुजर-बसर करता था। इस प्रकार ब्राह्मण के धन से तात्पर्य उस धन से है जो समाज के आध्यात्मिक विकास में संलग्न किसी व्यक्ति या संस्था को जनता द्वारा दान में प्राप्त होता है। जनता ऋषि ऋण से मुक्त होने हेतु यह दान देती थी। देवता गण प्रकृति का नियमन करते हैं जिससे पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण रहती है। प्राचीन काल में देवताओं को यज्ञों द्वारा प्रसन्न किया जाता था। इस दिव ऋण से मुक्त होने के लिए भी राजा व जनता ब्राह्मणों को दान देते हैं। ब्राह्मण लोग उस धन को अपने निजी व्यय में बिल्कुल नहीं लाते थे, केवल जनहितमें व्यय करते थे। गायों का भी प्राचीन काल में क्रय-विक्रय नहीं होता था। उसका लेन-देन दान द्वारा ही होता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन युग में ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति दान लेता ही नहीं था, कोई ब्राह्मण के अलावा किसी अन्य व्यक्ति को दान देता ही नहीं था, अतः ब्राह्मण का धन से तात्पर्य आज के युग में सभी प्रकार के दान दान-द्रव्य से है, उस दान का पाने वाला व्यक्ति या संस्था किसी भी जाति, धर्म सम्प्रदाय या वर्ग की हो। दान प्राप्तकर्त्ता व्यक्ति या संस्था उस धन का भी मात्र ट्रस्टी है और उस पर कुदृष्टि रखनी घोर पाप है। जन कल्याण के लिए जनता से सीधे दान प्राप्त करने वाला व्यक्ति यदि उस धन में स्वयं हेरा-फेरी करता है, या उस व्यक्ति को धोखा देकर अथवा उसकी कोमल भावनाओं को उभार कर कोई अन्य व्यक्ति उस व्यक्ति से दान-द्रव्य में से एक पैसा भी मुफ्त में लेता है, तो वह निश्चय ही इस जन्म में पाप करता है और अगले जन्म के लिए कालिंजर मठाधीश की तरह किसी कुतिया, बंदरिया, गीधनी आदि के गर्भ में आने की तैयारी करता है।"

बालहंस सरस मुस्कान के साथ फिर बोला, "इन मनमाने वाले फलों से हमें क्या प्रयोजन। हमें तो मोती ही चुगना है। यह वृक्ष तो आश्रम की सम्पत्ति है। इसके तो फल-फूल भी जो कोई मुफ्त में खाएगा उसका पतन हो जाएगा। क्या इन फलों का प्रलोभन देकर आप अगले जन्म में मुझे मनु पुत्रों की तरह गीध, चील, कौआ बनकर मुर्दों का माँस नोंचते हुए देखना चाहते हैं ?"

हंस वात्सल्य पूर्वक हँसा। "बोला, मैं तो विनोद कर रहा है, तुम हंस-पुत्र हो, चाहे भूख से शरीर भी छूट जाय, लेकिन मोतियों के अतिरिक्त अन्य आहार नहीं ले सकते हो—यह मैं भलीभाँति जानता है।"

फिर वे तीनों, उस वृक्ष के लुभावने फलों को तटस्थ भाव से देखा-अनदेखा करते हुए, पूँछ फड़फड़ाकर मोतियों की लालसा में किलोलें करते हुए मानसरोवर की ओर गतिशील हुए।

हमारे शास्त्रों और सन्तोंने दान देने वाले और दान लेने वाले दोनों को ही दान के धन से सावधान करते हुए कहा है कि "दानदाता को चाहिए कि वह दान, देश, काल और पात्र को देखकर दे। अन्यथा कुपात्र को दिया गया दान, दानदाता को भी पाप का भाजन बना देता है वह तुम्हारे दिए गए धन से शराब पीता है, बन्दूक की गोली से पशु-पक्षियों को मारता है तो वह पाप का भागीदार दानदाता भी हो जाता है। अगर दान तुमने सुपात्र को, सन्त को, देश काल, और परिस्थिति के अनुसार दिया है तो उस सन्त द्वारा किये गये धर्म अनुष्ठान, यज्ञादि के पुण्य कर्मफल के तुम भी भागीदार हो जाते हो।

और दूसरी ओर दान लेने वालों को भी सावधान करते हुए कहा है, "कि दान देने वाला किस कार्य विशेष के निमित्त दान देता है। दान लेने वाला भी उस धन को उसी कार्य में लगाये। जैसे, कोई धन, कमरे के लिए देता है, तो कोई मन्दिर के लिए, कोई यज्ञ के लिए, कोई पौशाला, कोई गौशाला के लिए, कोई धर्मशाला, तथा कोई अन्न क्षेत्र आदि के लिए देता है तो वह धन उसी में लगाना चाहिए। जो दान दान लेने वाले की इच्छा पर छोड़ देते हैं कि उसे वह जहाँ उसकी इच्छा हो लगा सकता है।

जो धन हमारा मन्दिर निर्माण में सहयोग देता है, यज्ञ में सहयोग देता है, साधक की साधना में, तीर्थयात्री की तीर्थयात्रा में सहयोग देता है। वह दाता भी उसके द्वारा होने वाले पुण्य का भागी हो जाता है। कुछ लोग अन्धे, भूखे, वस्त्रहीन, रोगी आदि के लिए, धर्मशाला, अस्पताल आदि बनाते हैं। ऐसे लोग भी पुण्य के भागी होते हैं।

संसार में हर वस्तु अपने मूलरूप में अशुद्ध होती है अगर हम बिना शोधन के सीधे-सीधे किसी वस्तु का सेवन करते हैं तो वह अशुद्धता हमारे अन्दर भी आ जाती है। ठीक ऐसे ही दानदाता किस प्रकार की कमाई का दान कर रहा है, छल, कपट, चोर बाजारी से कमाया हुआ धन अशुद्ध होता है इसे बिना शुद्ध किए जो सीधे-सीधे इस्तेमाल करता है, वह दोष भोक्ता के अन्दर स्वतः ही आ जाते हैं।

दान के धन को हर व्यक्ति में पचाने की शक्ति और सामर्थ्य नहीं होती। दान के धन को भजन करने वाला, तपस्वी, ज्ञान दान देने वाला संयमी पुरुष ही पचा सकता है। दान का धन इतना सुपाच्य नहीं है कि उसे हर आदमी आसानी से पचाले। पुण्यात्मा, धर्मात्मा को दिये गये दान से ही हम पुण्य के भागी होते हैं। पापात्मा, अधर्मात्मा को दान देकर हम भी पाप के भागी बन जाते हैं।

दान के यह कुछ मान्य से नियम और सिद्धान्त हैं जिन पर दानदाताओं और गृहीता दोनों को ध्यान देना चाहिए।

★ मैं उस धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करता, जो विधवा के आँसू पोंछने या अनाथों को रोटी देने में असमर्थ है।

—स्वामी विवेकानन्द

● श्री स्वामी सत्यप्रकाशजी

शक्ति की प्रतीक—तीन देवियाँ

यजुर्वेद के २९वें अध्याय में ऐसे कई मन्त्र हैं, जो शरीर की तुलना रथ से करते हैं। मन इस रथ का सारथी है, आत्मा इस रथ का रथी है। मन को कैसे वश में करें, इसका इस अध्याय में प्रतिपादन है। इसी विषय का विस्तार उपनिषदों में है और गीता में भी। अपने विचार यहींसे लिए हैं। यजुर्वेद के इस अध्याय के ८वें मन्त्र में तीन देवियों का उल्लेख है। पहले भी कई स्थानों पर इन देवियों की ओर संकेत किया गया है। ऋग्वेद में इन तीन देवियों की महत्ता है। इनके नाम इडा, सरस्वती और भारती हैं। भारती का विशेषण मही भी है।

इन देवियों का अभिप्राय बड़े गुह्य रूप से मन्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। इस अध्याय के मन्त्र में तो स्पष्ट रूप से इडा का सम्बन्ध वसु से, और सरस्वती का सम्बन्ध रुद्र से और भारती का सम्बन्ध आदित्य से बताया गया है। इस अभिप्राय से हम इडा को लक्ष्मी भी कह सकते हैं। आजकल धन की देवी (अर्थात् वसु की) लक्ष्मी मानी जाती है, अतः तीन देवियाँ लक्ष्मी, सरस्वती और भारती हुयीं। सबसे अधिक प्रतिष्ठा भारती की है, उसका सम्बन्ध आदित्य से है। ब्रह्मचारी श्री स्वामी दयानन्द ने तीन तरह के बताये हैं—वसु, रुद्र और आदित्य। आदित्य ब्रह्मचारी सर्वश्रेष्ठ है। उसकी प्रतिष्ठा सबसे अधिक है, इसीलिए भारती की प्रतिष्ठा सबसे अधिक है। इडा का सम्बन्ध भौतिक सम्पन्नता से है, धन, धान्य, भूमि, पशु और सन्तान की सम्पन्नता इडा देवी का प्रसाद है। यह लक्ष्मीपूजन है। रुद्र का सम्बन्ध सत्ता स्वत्व, अधिकार, शासन और शक्ति से है। यह सरस्वती देवी का प्रसाद है। आदित्य का सम्बन्ध आलोक, प्रकाश, ज्ञान, विद्या, विज्ञान और अध्यात्म प्रसाद से है। यह सम्पन्नता भारती देवी का प्रसाद है।

तीन ही प्रकार की वासनायें होती हैं जिन्हें हम अंग्रेजी में (लस्ट) कहते हैं, धन के प्रति वासना, शक्ति या अधिकार के प्रति वासना, और ज्ञान के प्रति वासना। जो धन अपने लिए कमाया जाता है, वह भोग का साधन न बनकर वासना का साधन बन जाता है। वेद कहता है कि जो अकेला खाता है, वह पाप खाता है। वेदमें कहा है कि सौहाथों से कमा और हजार हाथों से बाँट। जो ऐसा करता है, उसका धन (लस्ट) न होकर (लस्टर Luster) हो जाता है। धन की वासना या लस्ट (Lust) बुरी है, पर दूसरों की सहायता के निमित्त कमाया या बाँटा गया धन तेजस्वी और यशस्वी है, अब यह वासना न होकर देवी बन जाता है। देवता वह है जो धन दान करे (देव वह है, जो स्वयं प्रकाशित हो, दूसरों को प्रकाश दे, और दान दे। दान देने वाला ही देव या देवी है)। देशवासियों से मेरा आग्रह है कि वे खूब धन

कमायें पर धन गाड़कर बैंक-बैलेन्स बढ़ाने के के लिए नहीं है। जितना कमाओ, उसे लोक-सेवा के काम में लगाओ।

बहुतों को शक्ति और अधिकार की वासना है—प्रधान होना चाहते हैं, मन्त्री होना चाहते हैं (मुख्यमन्त्री या प्रधानमन्त्री, और छोटे-छोटे मन्त्री)। यह भी वासना है, यदि शक्ति का उपयोग अपने को गौरवशाली दिखाने के लिए करोगे। सत्ता, प्रभुत्व और अधिकार प्राप्त करो किन्तु दूसरे की सेवा के लिए। तब तो तुम सरस्वती देवी के उपासक कहलाओगे। सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने के लिए यदि तुम्हें प्रभु ने अधिकार और शक्ति दी है, तो उसका दुरुपयोग अत्याचार और स्वार्थ-परायणता के लिए मत करो। अगर तुम शक्ति और अधिकारों का उपभोग लोक-सेवा के भाव से करोगे, तो तुम्हारी शक्ति 'लस्ट' न बनकर 'लस्टर' बन जायगी। तब यह दैवी कहलावेगी।

विद्वानों का ज्ञान भी वासना बन सकता है। ज्ञान की लस्ट भी उतनी ही बुरी है, जितनी कि धन या प्रभुता (शक्ति) की। सच्चा विद्वान विद्या के कारण न धन कमाना चाहता है, न प्रभुता चाहता है। जो ज्ञान दूसरों के सुख के निमित्त होता है, वह भारती देवी का वरदान है, वह आदित्य की कोटि का है। प्राचीन ऋषियों और मनीषियों ने देश-विदेश में सर्वत्र ही तपस्या करके ज्ञान का वेदांग, उपांग और उपवेदों का विस्तार किया जिससे मनुष्य का गौरव बढ़े। आज के युग में वैज्ञानिकों ने भी दारिद्र्य मिटाने के लिए वैज्ञानिक वैभवों और शिल्पों का विकास किया। ये सब भारती देवी के वरदान हैं। पर यदि मनुष्य अपने ज्ञान को छिपाकर रखेगा। (कहेगा कि वेद शूद्र न पढ़ें, स्त्रियाँ न पढ़ें, विदेशी गोरे और काले न पढ़ें) तो ऐसा ज्ञान हमें तेजस्वी नहीं बनायेगा। सब दानों में ब्रह्मदान श्रेष्ठ माना गया है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

श्रुति भी कहती है कि 'तेजस्विनावधीतमस्तु'—हमारा पढ़ा-पढ़ाया तेजस्वी हो। ऐसा ही ज्ञान दैवी बनता है, न कि वासना। छिपाकर रखा हुआ ज्ञान केवल वासना है, पर दूसरों को पीड़ा देने के निमित्त जिस ज्ञान का विकास किया जाता है, वह आसुरी है, वह देवी का वरदान नहीं, किसी चण्डिका, पैशाचिनी या राक्षसणी का अभिशाप है। अतः तीन देवियों से आशीर्वाद पाने की हम में उत्सुकता होनी चाहिए—इडा, सरस्वती और भारती से।

★ जीवन और मृत्यु में, सुख और दुःख में ईश्वर समान रूप से विद्यमान है। समस्त विश्व ईश्वर से पूर्ण है। अपने नेत्र खोलो और उसे देखो।

× × ×

★ ईश्वर की पूजा करना अन्तर्निहित आत्मा की ही उपासना है।

—स्वामी विवेकानन्द

निर्मल भावनाओंसे ओत-प्रोत हो जाता है और तब बुद्धिको भी प्रेरित करके आत्मा को आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में मोड़ देने में सहायक बन जाता है। इससे स्थितप्रज्ञ बनने का महत्व साधक की समझमें आने लगता है और तदनुसार ही वह आचरण करने लगता है। मन सत्य से शुद्ध होता है, और बुद्धि स्वाध्याय एवं सत्संग का आश्रय लेकर ज्ञानार्जन को अपना लक्ष्य बना लेती है, यह तत्व साधक की समझ में सहज ही आ जाता है। वह इनका आश्रय लेना आरम्भ कर देता है जिसके फलस्वरूप उसके आचरण एवं व्यवहारमें दैवी सम्पदाके प्रायः सभी लक्षण स्पष्ट नजर आने लगते हैं। मन, वाणी और कर्म तीनों में एकरूपता का प्रतीक जैसा वह प्रतीत होने लगता है। लोग, जो भी उसके सम्पर्क में आते हैं कहने लगते हैं—यह आदमी नहीं देवता है, फरिश्ता है, सच्चे अर्थों में निष्काम कर्मयोगी है, सच्चा सिद्ध है, साधु-सन्त है, आदर्श भक्त है, आदि चर्चायें उसके बारे में फैलने लगती हैं।

लोग अनुभव करने लगते हैं और कहने भी लगते हैं कि अब यह जो सोचता है वही कहता है और जो कहता है वही करता भी है। कैसे आया उसमें यह परिवर्तन? इस पर जब हम विचार करने लगते हैं तब यही निष्कर्ष निकलकर सामने आता है कि आहार और व्यवहार की शुचिता ही, जिसे बाह्य और आभ्यान्तर शौच के रूप में उसने अपनाया हुआ है उसके इस अलौकिक व्यक्तित्व में परिवर्तन लाने का कारण बनी है। आहार शुद्धि और व्यवहार शुद्धि दोनों का अभिन्न सा सम्बन्ध रहता है। बाह्य शौचकी प्रतिष्ठा यदि साधक करलेगा तोआभ्यान्तर शौचके सिद्धान्त और नियम भी उसके अन्तर में प्रतिष्ठित हुए बिना नहीं रह सकते। दोनों ही एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं। लेकिन प्रतिकूल इसके यह भी देखने में आता है कि जो साधक शुभ संस्कारों से हीन होते हैं, वे बाह्य शौच को तो दिखावे के लिए सामाजिक भय के कारण अपना लेते हैं किन्तु आन्तरिक शुचिता पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। वे आचरण में सत्य की प्रतिष्ठा करने के प्रयत्नों से सदा दूर रहना पसन्द करते हैं। झूठहि लेना झूठहि देना, झूठहि भोजन, झूठ चबैना ही ऐसे साधकों का लक्ष्य रहता है। "मन सत्येन शुद्ध्यति" मन सत्य से शुद्ध होता है यह तत्व उनको आत्मसात ही नहीं हो पाता। सत्य वाणी में प्रतिष्ठित हो जाने से वाणी फलवती हो जाया करती है, योग दर्शन का यह सिद्धान्त भी इन संस्कार हीन साधकों की समझ में नहीं आ पाता। ऐसा होना इन्हें तभी सुलभ हो पायेगा जब गुरुदेव जी की कृपा से नित्य के सत्संग और ईश्वर प्रणिधान से इनका मन श्रद्धा रूपी गंगाजल से धुलकर पावन बन जावेगा।

अगर अपने दिव्य श्रोतों से हम सुन सकते हैं तो सुनें—महाकाश में एक रूप हुए गुरुदेव कह रहे हैं—मेरे प्यारे बच्चो! **यदि तुम योग पथ के सच्चे** और श्रद्धालु साधक हो, तो तप, त्याग की अडिग चट्टानों और सत्य की शिलाओं पर तपकर ही तुम्हें मेरे मार्ग पर चल पड़ना अथवा मुझे पा लेना सुलभ हो सकेगा। इसके अलावा अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। —सम्पादक

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

—: सद्उपदेश :—

पुराणों में एक कथा का वर्णन है। यह रोचक कथा मुनि वसिष्ठ जी भगवान श्रीराम को सुनाते हुए कथन करते हैं कि एक बार एक वन में मैंने एक अत्यन्त शक्तिशाली और निराले प्राणी को देखा। उसके सहस्रों नेत्र तथा सहस्रों ही मुख थे। अपने सहस्रों विशाल नेत्रों से वह एक साथ ही सहस्रों हाथों से अन्य जन्तुओं पकड़ने को तेजी से भागता। तत्पश्चात् अपने सहस्रों मुखों से उन सबको हड़पने का प्रयत्न करता। अभी उन्हें पूरी तरह मुख में डाल भी न पाता था कि उन्हें छोड़कर अन्य पदार्थों के पीछे भागने लगता। यदि कोई पदार्थ उसके हाथ न लगता तो वह झुंझला उठता और व्याकुल होकर जोर-जोर से चिल्लाने लगता। इस प्रकार वह अपने सहस्रों पैरों से लगातार सारा दिन दसों दिशाओं में दौड़ता रहता। रात्रि होने पर वह एक अन्धे कुए में गिर पड़ा जहाँ सहस्रों की संख्या में विषैले जन्तु रेंग रहे थे। उस प्राणी के उस कुए में गिरते ही वे सब उससे चिपट गये और उसे डंक मारने लगे। बहुत से उसका मांस नोंच-नोंचकर खाने लगे और बहुत से उसका रक्त चूसने लगे। इससे उसे असहनीय वेदना हुई, जिससे वह रात भर चीखता-चिल्लाता और तड़पता रहा। सवेरा होने पर वह उस कुए में से बाहर निकल आया और बाहर आते ही वह रात का सारा कष्ट भूल गया और फिर उसी प्रकार पहिले दिन की तरह ही उसने पदार्थों के पीछे दसों दिशाओं में भागना आरम्भ कर दिया। दूसरी रात फिर वह उसी अन्धे कुए में गिर पड़ा। इस प्रकार यह क्रम नित्य-प्रति चलता रहा कि रात भर तो वह उस अन्धे कुँए में गिरकर बहुत कष्ट पाता, परन्तु प्रातः होते ही रात के सब कष्ट भूलकर वह पुनः उसी प्रकार भाग-दौड़ शुरू कर देता।

यह रोचक दृष्टान्त सुनाकर मुनि वसिष्ठजी भगवान श्री रामजी को सम्बोधित करते हुए बोले—हे रामजी! इस विषय में आप कुछ बता सकते हैं कि वह निराला प्राणी कौन है और उसका क्या नाम है?

भगवान राम ने कहा—मुनिदेव! आप ही इस निराले जीव पर प्रकाश डालिये।

मुनि वसिष्ठजी बोले—मनुष्य का मन ही वह शक्तिशाली प्राणी है, जिसके सहस्रों संकल्प-विकल्प, तरंगें, कामनायें और वासनायें उसके सहस्रों हाथ, पांव, मुख और नेत्र हैं। वह वन कौन-सा है? यह संसार ही वन है, जिसमें रहता हुआ यह मन सांसारिक पदार्थों तथा विषय भोगों के पीछे दीवाना हुआ उनकी प्राप्ति के लिए दसों दिशाओं में

भागता रहता है। चाहे जितने ही पदार्थ उसे प्राप्त क्यों न हो जायें, वह कभी तृप्त नहीं होता, पुनः दुखी होता और कलपता है। रात से अभिप्राय मृत्यु से है और वह अन्धा कुआ घोर नरक है। नरक में चिरकाल तक बड़ी-बड़ी यातनायें एवं कष्ट भोगने के उपरान्त जब वह पुनः संसार में आता है तो उन कष्टों को पूर्णतया भूलकर पुनः विषय-भोगों के पीछे भागना आरम्भ कर देता है।

दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का मन अत्यन्त शक्तिशाली है और सांसारिक भोगपदार्थों एवं विषय रसों का दीवाना है। उनकी खोज में यह दसों दिशाओं में भागता रहता है और उनकी प्राप्ति के लिए हर समय व्याकुल और परेशान रहता है, एक पल भी यह चैन से नहीं बैठता।

अत्यन्त शक्तिशाली होने से यह शीघ्र मनुष्य के वश में नहीं आता।

मनुष्य के मन में अनन्त कामनायें विद्यमान हैं, जिनकी गिनती करना असम्भव है। मन के विषय में तो सन्तपुरुषों ने यहाँ तक कहा है कि—

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौड़।

अर्थात्, जितनी समुद्र की लहरें हैं, उतनी ही तरंगें मन की भी हैं।

सन्त सुन्दरदासजी का कथन है कि—

हटकि हटकि मन राखत जु छिन-छिन,
सटकि-सटकि चहुँ ओर वह जात है।
लटकि-लटकि ललचाय लोल बार-बार,
गटकि-गटकि करि विषय फल खात है॥

अभिप्राय यह है कि विषयों की ओर से लाख रोकने पर भी यह मन रुकने का नाम नहीं लेता और रुके भी कैसे? मन को रोकना कोई साधारण काम तो है नहीं। भर्तृहरिजी तो यहाँ तक लिखते हैं कि :—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं…

वासितारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृङ्-
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढरूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमालानलीलाम्॥
(वैराग्यशतक ४६)

हे भाई! मैं सारे संसार में घूमा और तीनों लोकों में भी मैंने खोज की, पर मैंने ऐसा वीर पुरुष न कहीं देखा और न ही सुना जो मन को वश में कर सका हो, क्योंकि मन सांसारिक पदार्थों तथा विषय रसों के पीछे उसी प्रकार दीवाना होकर भागता है जैसे मस्त हाथी विषयवासना के अधीन होकर उसकी पूर्ति के लिए उच्छृङ्खल होकर भागता है।

बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा भी जिन्होंने बड़े-बड़े युद्धों में विजय प्राप्त की, इस मन के हाथों पराजित हो गये। लाख प्रयत्न करने पर भी वे मन पर विजय प्राप्त न कर सके। इसी विषय में एक और कथा है :—

योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ के समय की बात है। दक्षिण देश में एक बड़ा ही बलवान, पराक्रमी एवं प्रतापी राजा राज्य करता था, जिसका नाम था पारसनाथ। प्रतापी तो वह था ही, विद्वता में भी वह अद्वितीय था। सभी वेद शास्त्रों का उसने भली भाँति अध्ययन किया था। अपने पराक्रम से सभी राजाओं पर विजय प्राप्त कर वह चक्रवर्ती राजा बन गया था। साथ ही वेदों-शास्त्रों के दिग्गजों तथा विद्वान ऋषियों-मुनियों को भी उसने शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। चूँकि उसे सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई थी, अतएव इस विजय के फलस्वरूप उस पर अहंकार सवार हो गया। अहंकार के वशीभूत होकर उसने ऋषियों, मुनियों तथा

विद्वान पण्डितों की एक सभा बुलाई और सबके समक्ष यह घोषणा की—

आज सृष्टि में सर्वाधिक बलशाली, पराक्रमी तथा विद्वान मैं ही हूँ। मेरे सदृश आज संसार में अन्य कोई नहीं। इसलिए आज से आप मुझे ही सर्वशक्तिमान समझकर मेरी ही पूजा, आराधना किया करें।

पारसनाथ का ऐसा कथन सुनकर सभी अवाक् रह गये। उन्होंने सोचने-विचारने के के लिए राजा से समय माँगा। राजा पारसनाथ उन्हें एक दिन का समय देकर राजमहल में चले गये।

राजा के चले जाने के बाद सभी इस नई स्थिति के विषय में विचार-विमर्श करने लगे कि पारसनाथ अत्यन्त शक्तिशाली है, अतः उसे हराना तो असम्भव ही है, परन्तु उसकी बात मानना भी कदापि उचित नहीं। अब क्या किया जाय? यदि हम लोगों ने उसकी बात न मानी, तो फिर वह अत्याचार करने पर उतारू हो जायेगा। अन्ततः उन्हें एक युक्ति सूझी। उन दिनों योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ तपोबल में बहुत बढ़े-चढ़े थे। उस समय वे एक टापू में समाधि में लीन थे। सभी ने यह तय किया कि राजा पारसनाथ को योगी मत्स्येन्द्रनाथ के पास भेजना चाहिए। उनका विचार यह था कि जब राजा अहंकारवश उन्हें समाधि से बलपूर्वक जगायेगा, तो उनकी क्रोधाग्नि से वह भस्म हो जायेगा।

दूसरे दिन राजा पारसनाथ के आने पर जब पुनः सभा एकत्र हुई तो एक वयोवृद्ध ऋषि ने राजा पारसनाथ को सम्बोधित करते हुए कहा—राजन्! आप वीरता और विद्वत्ता दोनों में अद्वितीय हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हममें कोई भी आपका मुकाबला करने में समर्थ नहीं है। हमने आपस में विचार-विमर्श कर यह निश्चय किया है कि यदि योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ, जो इस समय हमारे अग्रणी हैं, आपको सर्वशक्तिमान मानकर पूजा-आराधना स्वीकार कर लें, तो फिर हम भी वैसा ही करने को तैयार हैं।

राजा पारसनाथ पर तो मद पूरी तरह हावी था, अतएव वह तुरन्त बोल उठा—बताओ! योगी मत्स्येन्द्रनाथ कहाँ मिलेंगे? ताकि इस बात का तुरन्त निर्णय हो जाये? मैं अभी सैनिक भेजकर उन्हें यहीं पर बुलवाता हूँ।

वयोवृद्ध ऋषि ने कहा—वे इस समय अमुक टापू में समाधि में स्थित होकर ब्रह्म का ध्यान कर रहे हैं। आपके सैनिक उन्हें यहाँ नहीं ला सकते, क्योंकि वे अत्यन्त शक्तिशाली हैं।

यह सुनकर राजा पारसनाथ क्रोध में भरकर उठकर खड़ा हो गया और महल में आकर उसने अपने मन्त्री को बुलाकर आदेश दिया—सेना को तैयार करो। योगी मत्स्येन्द्रनाथ के पास हम स्वयं जायेंगे।

मन्त्री अत्यन्त विचारवान और भक्तिमान था। उसने मन में सोचा कि अहंकार के वशीभूत होने के कारण इस समय राजा को अपना भला-बुरा कुछ नहीं सूझ रहा है, परन्तु मन्त्री होने के नाते मेरा यह कर्त्तव्य है कि वह काम करूँ जिससे राजा का हित हो। यह सोचकर वह बोला—राजन्! महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ के पास कोई सेना तो है नहीं। वे तो एक योगी पुरुष हैं, जो उस एकान्त स्थान पर समाधि लगाये भजनाभ्यास में लीन हैं, फिर सेना लेकर उनके पास जाने की क्या आवश्यकता है? उनको पकड़कर लाने के लिए तो आप और मैं—दो ही व्यक्ति बहुत हैं। हाँ! यदि आपका विचार कुछ सैनिक

साथ ले जाने का ही विचार है तो दो-चार सैनिक साथ ले लीजिये।

राजा को मन्त्री का परामर्श पसन्द आया उसने मन्त्री को तैयारी का आदेश दिया। मन्त्री इस बात को भली भाँति समझता था कि किसी सिद्ध पुरुष को समाधि से जगाना मानो स्वयं को उनकी क्रोधाग्नि में जलाना है। अतएव उसने लोहे की एक प्रतिमा भी आवश्यक सामान के साथ रखली। दूसरे दिन राजा तथा मन्त्री ने दो विश्वस्त सैनिकों के साथ उस टापू की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि योगी मत्स्येन्द्र-नाथ एक अत्यन्त रमणीक स्थान पर पद्मा-सन लगाये समाधि में लीन हैं। मन्त्री ने उनके सम्मुख कुछ दूरी पर लोहे की प्रतिमा खड़ी करवा दी और राजा पारसनाथ तथा मन्त्री सैनिकों सहित एक ओर पेड़ की आड़ में छिप गये। तत्पश्चात् स्तुति गायन कर मन्त्री ने योगी मत्स्येन्द्रनाथ को समाधि से जगाने का प्रयत्न किया। कुछ देर के प्रयत्न से योगी की समाधि भंग हुई। समाधि भंग होने से वे क्रोधित हो उठे। फलस्वरूप जैसे ही उन्होंने आँखें खोली, लोहे की प्रतिमा तत्काल जलकर भस्म हो गई। यह देखकर राजा पारसनाथ के प्राण सूख गये। मारे भय से वह थर-थर काँपने लगा और पसीने से भीग गया।

कुछ देर बाद जब योगी मत्स्येन्द्रनाथ का क्रोध शान्त हुआ तब उन्होंने उच्च परन्तु शान्तिपूर्ण वाणी में कहा—मुझे समाधि से किसने जगाया?

योगी मत्स्येन्द्रनाथ की शान्तिपूर्ण आवाज सुनकर मन्त्री ने राजा से कहा—योगी का क्रोध अब शान्त हो चुका है, अतः अब उनके सम्मुख जाने में कोई भय नहीं है।

यह कहकर मन्त्री, योगी मत्स्येन्द्रनाथ की ओर चल दिया। राजा पारसनाथ कुछ देर के लिये भयभीत अवश्य हो गये थे परन्तु थे वह एक शूरवीर योद्धा। अतः उन्होंने शीघ्र ही अपने को सम्हाल लिया और मन्त्री के पीछे-पीछे वह भी योगी की ओर चल पड़ा।

मन्त्री ने योगी के सम्मुख जाकर प्रणाम किया, परन्तु पारसनाथ चुपचाप उनके सामने खड़े रहे। योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने एक गम्भीर दृष्टि दोनों पर डाली, तत्पश्चात् मधुर वाणी में बोले—आप लोग किस प्रयोजन से यहाँ आये हैं?

उत्तर में राजा पारसनाथ, जो कि स्वयं को अब पूर्णतया सम्हाल चुका था, बोला—मेरा नाम राजा पारसनाथ है। मैंने पृथ्वी के सभी राजाओं को अपने बाहुबल से परास्त कर उन्हें अपने अधीन कर लिया है। इसके साथ-साथ मैंने ऋषियों, मुनियों तथा विद्वान पण्डितों को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया है इस समय संसार में मेरे समान न तो कोई शक्तिशाली है और न ही विद्वान; मैं सभी को परास्त कर अपने अधीन कर चुका हूँ। अन्य सभी तो मुझे सर्वशक्तिमान मानकर मेरी पूजा-आराधना करने को तैयार हैं, पर उन्होंने आपको अग्रणी मान अन्तिम निर्णय आप पर छोड़ा है। इसलिए आप मुझ से या तो शास्त्रार्थ करें या युद्ध करें, अन्यथा मुझे सर्वशक्तिमान मान लें।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ समझ गये कि राजा इस समय पूर्णतः मन के अधीन है और अपना हित अनहित सोचने में असमर्थ है। उसकी ऐसी दशा देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा और वे उसके कल्याण के लिए कोई युक्ति सोचने लगे। उन्हें चुप देखकर राजा पारसनाथ पुनः बोला—आपने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया?

योगी मत्स्येन्द्रनाथ बोले—राजन ! मैं न तो कोई विद्वान हूँ और न ही कोई योद्धा जो तुमसे शास्त्रार्थ अथवा युद्ध करूँ । मैं तो एक साधारण योगी हूँ और एक अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु से त्रस्त और परेशान होकर मैंने इस टापू में शरण ली है ।

राजा मन ही मन विचार करने लगा कि यह तो कोई बहुत ही डरपोक व्यक्ति दिखाई देता है । जो अपने शत्रु का सामना करने की अपेक्षा यहां भाग आया है । अबतो मेरा काम बना बनाया है । यह सोच कर वह प्रकट में बोला, आपका वह शत्रु कौन है ? आप मुझे उसका नाम बतायें और फिर मेरा पराक्रम देखें कि मैं उसको कैसे पराजित कर और बन्दी बनाकर आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ ।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने मुस्कराते हुए कहा राजन ! तुम उसका सामना नहीं कर सकते । वह तो इतना अधिक शक्तिशाली है कि बड़े-बड़े महारथी और चक्रवर्ती राजा भी उसकी शक्ति के सामने घुटने टेक चुके हैं । उसने संसार पर अपना आधिपत्य जमा रखा है । वह जिसे चाहता है नचाता है, फिर तुम भला उसे अपने अधीन कैसे कर सकते हो ?

योगीराज की बातें सुनकर राजा पारसनाथ क्रोध से तिलमिला उठा और तलवार खींचकर गरजते हुए बोला इस समय संसार में किसका ऐसा साहस है जो कि मेरा सामना कर सके ? बड़े-बड़े शासक और राजा भी, जिनके पास अपार सेना थी, आज मेरे ही अधीन हैं । योगीराज ! ज्ञात होता है कि आप बहुत दिनों से समाधि में लीन हैं । यही कारण है कि आप मेरी शक्ति से अनभिज्ञ हैं, अन्यथा आप ऐसी बातें न करते । आज मेरा नाम सुनते ही शूरवीर से शूरवीर भी एक पल में मेरी अधीनता स्वीकार कर लेता है ।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ बोले—औरों को तुमने चाहे अपने अधीन कर लिया होगा, परन्तु उसे अधीन करना तुम्हारी शक्ति से परे है ।

राजा पारसनाथ तड़प कर बोला—बस-बस ! मेरे सामने उसकी शक्ति की इतनी महिमा न करें । आप केवल उसका नाम बतायें और फिर मेरी शक्ति देखें ।

प्रथम तो मुझे विश्वास है कि मैं अब तक अधीन कर चुका हूंगा । यदि किसी तरह से वह बच भी गया है, तो कुछ ही पलों में मैं उसे अपने अधीन न कर लूं तो मेरा नाम पारसनाथ नहीं !

योगी मत्स्येन्द्रनाथ बोले—तो फिर ठीक है हम तुम्हें उस शक्तिशाली शत्रु का नाम बताते हैं । वह प्रबल शत्रु कहीं बाहर नहीं है । अपितु तुम्हारे अन्दर विद्यमान तुम्हारा मन है । यदि तुमने इस पर विजय प्राप्त करली है, इसे अपने अधीन कर लिया है, तब तो हम मान लेंगे कि वास्तव में ही तुम सर्वशक्तिमान हो । यदि तुमने इस प्रबल शत्रु पर अभी तक विजय प्राप्त नहीं की, इसे वश में नहीं किया तो फिर सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त कर लेने से लाभ ही क्या ! क्योंकि यह प्रबल शत्रु तो तुम्हें अपने संकेतों पर सदा ही नचाता रहेगा ।

राजन ! हम जानते हैं कि बड़े-बड़े राजाओं को अपने अधीन कर लेने के उपरान्त भी तुम अभी तक अपने मन को अधीन नहीं कर पाये । किन्तु इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, क्योंकि मन रूपी इस प्रबल शत्रु को अधीन करना कोई सुगम कार्य नहीं है । इसे तो बड़े-बड़े शूरवीर और ऋषि, मुनि भी वश में नहीं कर सके, वे भी इसके सामने परास्त हो गये, फिर तुम्हारा इसके सामने क्या अस्तित्व है !

हे राजन ! हम तुम्हीं से पूछते हैं क्या तुमने मन रूपी प्रबल शत्रु पर विजय प्राप्त

चलती है ? क्या तुमने इसे अपने अधीन कर कर लिया है ? यदि नहीं, तो फिर तुम स्वयं को सर्वशक्तिमान कैसे कह सकते हो ?

यह कहकर योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ राजा पारसनाथ की ओर देखने लगे। पारसनाथ मौन खड़ा था। उसे मौन देखकर योगी मत्स्येन्द्रनाथ पुनः बोले—राजन् ! चुप क्यों हो ? हमारे प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं देते ? बतलाओ क्या तुम्हारे मन में संकल्प-विकल्प नहीं उठते ? क्या सांसारिक कामनायें तुम्हें नहीं सताती ? क्या तुम्हारा मन विषय-भोगों की ओर नहीं दौड़ता ? क्या मन की सेना के वीर योद्धाओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकारियों को तुमने पराजित कर लिया है ?

राजा पारसनाथ उसी प्रकार गुमसुम खड़ा रहा। योगी मत्स्येन्द्रनाथ के यथार्थता से पूर्ण वचनों ने उसके अन्दर उथल-पुथल मचा दी। वह अभी उत्तर देने की सोच ही रहा था कि वे पुनः बोल उठे—राजन् हमारी अनुभवी आँखें यह स्पष्ट देख रही हैं कि तुमने मन को अधीन नहीं किया, अपितु उसने ही तुम्हें अधीन कर रखा है। बोलो ! क्या यह सत्य नहीं है ?

राजा पारसनाथ ने मौन तोड़ा—योगिराज आपका कथन पूर्णतया सत्य है। मैंने मन को अधीन नहीं किया है अपितु उसने मुझे ही अधीन कर रखा है। वह मुझे दिन-रात नचाता है। मुझे उसकी दासता से मुक्ति दिलाइये।

यह कहकर वह योगी मत्स्येन्द्रनाथ के चरणों पर गिर पड़ा और उनका शिष्य बन गया।

ऐसे ही सम्राट सिकन्दर की कथा भी बहुत प्रसिद्ध है। भारत के पश्चिमी भाग पर विजय प्राप्त कर जब सिकन्दर की सेना आगे बढ़ी, तो उसका एक ऐसे मार्ग से गुजर रहा था, जहाँ एक उच्च कोटि के महात्मा निवास करते थे। चूँकि सम्राट सिकन्दर की वीरता और विजय की दूर-दूर तक धूम मची हुई थी, अतः वह जिधर होकर निकलता, आस-पास के नगरों और ग्रामों के लोग उसके सम्मान में मार्ग के दोनों ओर खड़े हो जाते और अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार उसे धन पदार्थ भेंट करते। सिकन्दर के अंग-रक्षक उसकी सवारी के आगे-आगे चल रहे थे। जब वे महात्माजी की कुटिया के निकट पहुँचे, उस समय वे कुटिया के बाहर एक पेड़ के नीचे आसन बिछाये ध्यानमग्न बैठे थे। उन्हें सिकन्दर के सम्मान में उठते न देखकर एक सैनिक घोड़े से नीचे उतरा और महात्मा जी के कन्धों को पकड़कर झिंझोड़ते हुए उच्च स्वर में बोला—सम्राट सिकन्दर की सवारी आ रही है उठ। और उनका सम्मान कर। वे प्रसन्न होकर तुझे मालामाल कर देंगे।

वे सैनिक पूर्णतः इस बात से अनभिज्ञ थे कि जिनके हृदयमें प्रभु की लगन होती है वे तो सम्राटों के भी सम्राट होते हैं। वे संसारके धन पदार्थों की चाह नहीं करते। अपितु सारा संसार उनके चरणों में झुकने को तत्पर रहता है। महात्माजी ने उस सैनिक की बात पर तनिक भी ध्यान न दिया और उसी प्रकार बैठे रहे मानो उन्होंने उसकी बात सुनी ही न हो।

सैनिक ने दोबारा अपनी बात दोहरायी, परन्तु महात्माजी अपनी धुन में मस्त वैसे ही बैठे रहे। यह देखकर दो-तीन और सैनिक घोड़ों से उतर आये। वे उन्हें बलपूर्वक उठाने का प्रयत्न कर ही रहे थे कि सिकन्दर की सवारी उस स्थान के निकट पहुँच गयी।

सैनिकों से सब बात विदित होने पर वह स्वयं घोड़ा दौड़ाते हुए महात्माजी के सम्मुख जा पहुँचा और बड़े रौब से बोला—ऐ फकीर देख ! संसार का महान योद्धा विश्व-विजेता सम्राट सिकन्दर तेरे सामने है।

सिकन्दर की बात सुनकर महात्माजी ठहाका मारकर हंस पड़े और बोले—तू और सम्राट ? ऐ सिकन्दर तू भूलता है, सम्राट तू नहीं, सम्राट तो हम हैं। तू तो हमारे गुलाम का भी गुलाम है।

महात्माजी के ये शब्द सुनते ही सैनिकों ने तलवारें खींच लीं। सिकन्दर ने हाथ के संकेत से उन्हें मना करते हुए महात्माजी से कहा—मैं आपके गुलाम का गुलाम कैसे हुआ ? मैं तो विश्वविजयी सम्राट सिकन्दर हूँ।

महात्माजी बोले—

सिकन्दर मत कह तू शहंशाह अपने को।
खुद को शहंशाह समझना है ख्याले खाम॥
जिस मन को हमने जेर कर रखा है।
तू उसी मन का बना हुआ है गुलाम॥

ऐ ! सिकन्दर जिस मन को काबू में करके हमने गुलाम बना रखा है तू उसी मन का गुलाम बना हुआ है। फिर तू हमारे गुलाम का भी गुलाम हुआ कि नहीं। बता ! क्या तू मन का गुलाम नहीं है ? क्या तू उसके संकेतों पर नहीं चल रहा है ?

बात थी भी यथार्थ, सिकन्दर इसका क्या उत्तर देता ! उसका सारा अभिमान चूर हो गया। उसने महात्माजी से अपनी भूल की क्षमा माँगी।

कथाओं का अभिप्राय यह है कि मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यह भी एक यथार्थता है कि जब तक मन को वश में नहीं किया जायगा, तब तक मनुष्य को शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती।

यह प्रश्न उठता है कि मन को वश में करना तो बहुत ही कठिन है, जबकि बड़े-बड़े शूरवीर भी इसे वश में नहीं कर सके, तो आम मनुष्य इसे वश में कैसे कर सकता है ? यही शंका अर्जुन के मन में भी उत्पन्न हुई थी और उसने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी से पूछा था कि—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण
प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये
वायोरिव सुदुष्करम्॥

—गीता ६/३४

अर्थ—हे कृष्ण ! यह मन बड़ा ही चंचल है, बड़ा दृढ़ तथा बलवान है, इसलिए इसको वश में करना वायु के रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

अब आप स्वयं विचार कीजिये कि ऐसे मन को वश में करना कठिन है या नहीं। परन्तु फिर भी मन को वश में करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। यदि आप सही ढंग से प्रयत्न करेंगे तो आप देखेंगे कि यह कार्य उतना दुष्कर नहीं जितना कि इसके विषय में कहा गया है। यदि बड़े-बड़े शूरवीर इसे वश में नहीं कर सके, तो उसका एक ही कारण है कि उन्होंने सही ढंग से इसे वश में करने का प्रयत्न नहीं किया। अब हम इसको वश में करने के सही ढंग पर विचार करेंगे। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने मन को वश में करने के दो साधन बतलाये हैं—

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय
वैराग्येण च गृह्यते ॥

—गीता ६/३५

अर्थ—हे महाबाहो ! निस्सन्देह यह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है ।

किसी बिगड़े हुए मस्त हाथी को जब वश में करना होता है तो उसके लिए दो साधन अपनाये जाते हैं । एक तो उसके पाँवों में शृङ्खलायें डाल दी जाती हैं जिससे कि वह भाग न सके और दूसरा साधन यह अपनाया जाता है कि उसके मस्तक पर बार-बार अंकुश मारा जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि हाथी अपनी सारी मस्ती भूल जाता है और महावत के वश में हो जाता है तथा उसके संकेतों पर चलने लगता है । किन्तु स्मरण रहे कि यह कार्य कुशल महावत ही कर सकता है, प्रत्येक व्यक्ति नहीं । ऐसे ही किसी बिगड़े हुए घोड़े को वश में करने के लिए भी दो साधन प्रयोग में लाये जाते हैं—एक लगाम और दूसरा चाबुक । इन दोनों के निरन्तर प्रयोग से घोड़ा अपनी सारी चौकड़ी भूल जाता है । किन्तु यह कार्य भी प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता, प्रत्युत कोई कुशल घुड़सवार ही कर सकता है ।

ठीक इसी प्रकार मन को वश में करने के लिए भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने दो साधन बतलाये हैं—एक वैराग्य दूसरा अभ्यास । वैराग्य शृङ्खला अथवा लगाम के सदृश है और अभ्यास अंकुश अथवा चाबुक के सदृश । किन्तु जैसे हाथी अथवा घोड़े को वश में करना किसी दक्ष व्यक्ति का ही कार्य है, वैसे ही मन को भी किसी दक्ष पुरुष की सहायता से ही वश में किया जा सकता है । आम लोग यही गलती करते हैं कि वे अपने आप ही मन को वशमें करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु जब वे इस कार्य में सफल नहीं होते, तो फिर कहने लगते हैं कि यह कार्य अत्यन्त दुष्कर है । यदि वे आरम्भ से ही किसी दक्ष पुरुष की सहायता से वैराग्य और अभ्यास द्वारा इसे वश में करने का प्रयत्न करें, तो फिर कोई कारण नहीं कि उन्हें इस कार्य में सफलता न मिले । वे दक्ष पुरुष हैं, समय के सद्गुरुदेव । उनकी सहायता से तथा उनके पथ-प्रदर्शनमें वैराग्य और अभ्यास द्वारा सुगमता से मन को वश में किया जा सकता है ।

सत्पुरुष कहते हैं कि मन रूपी हाथी सद्गुरु के शब्द द्वारा ही वश में आता है ।

● ब्रह्मचारी गुरु के घर में रहकर अपने तपकी वृद्धि के लिए समस्त इन्द्रियों को वश में रखकर इन नियमों का पालन करे—नित्य नहाकर शुद्ध होकर देव, ऋषि और पितरों का तर्पण करे, देवताओं का यथाविधि पूजन करे, वन में से यज्ञ के लिए लकड़ियाँ लाकर हवन करे । राजसी-तामसी भोजन, चन्दन, इत्र आदि पदार्थ, फूल, मालाएँ, रस, स्त्री-संसर्ग और सब प्रकार के आसवों का तथा प्राणियों की हिंसा का सर्वथा त्याग करे ।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

● संग्रहकर्ता—श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा, ग्वालियर

मानस-नीति-दर्पण

(सुन्दरकाण्ड से संग्रहीत)

[सुधी लेखक मानस के साधकों में से हैं। 'राम के आँसू' नामक आपकी कृति हाल ही में प्रकाशित हो चुकी है। मानस-नीति-दर्पण संग्रह आपकी दूसरी कृति है जिसके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है। —सम्पादक]

दोहा—तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिअ तुला एक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत संग॥

अर्थ—हे तात! स्वर्ग और मोक्ष के सब सुखों को तराजू के एक पलड़े में रखा जाय, तो भी वे सब मिलकर (दूसरे पलड़े में रखे हुए) उस सुख के बराबर नहीं हो सकते जो सुख लव (क्षण) मात्र के सत्संग से होता है।

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखि बिचारि त्याग मद मोहा॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषण भूषित बर नारी॥

अर्थ—राम नाम के बिना वाणी शोभा नहीं पाती। मद-मोह को छोड़ विचार कर देखो। सब गहनोंसे सजी हुई सुन्दरी स्त्री भी कपड़ों के बिना (नंगी) शोभा नहीं पाती। इसी प्रकार नाको राम नाम बिना शोभाहीन रहती है।

राम बिमुख सम्पति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
जल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहि सुखाई॥

अर्थ—राम विमुख पुरुष की सम्पत्ति और प्रभुता रही हुई भी चली जाती है और उसका पाना न पाने के समान है। जिन नदियों के मूल में कोई जल स्रोत नहीं है (अर्थात् जिन्हें केवल बरसात का ही आसरा है) वे वर्षा बीत जाने पर तुरन्त ही सूख जाती है।

दोहा—सचिव बैद्य गुरु तीनि जो, प्रिय बोलहि भय आस।
राज धर्म तनु तीनि का, होइ बेगि ही नाश॥

अर्थ—मन्त्री, वैद्य और गुरु—ये तीन यदि (अप्रसन्नता के) भय या (लाभ की) आशा से (हित की बात कहकर) प्रिय बोलते है तो (क्रमशः) राज्य, शरीर और धर्म—इन तीन का शीघ्र ही नाश हो जाता है।

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं। नाथ पुराण निगम असकहहीं।
जहाँ सुमति तहं सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहं बिपत्ति निदाना॥

अर्थ—हे नाथ पुराण और वेद ऐसा कहते हैं कि सुबुद्धि (अच्छी बुद्धि) और कुबुद्धि (खोटी बुद्धि) सबके हृदय में रहती है। जहाँ सुबुद्धि है वहाँ नाना प्रकार की सम्दायें (सुख की स्थिति) रहती है और जहाँ कुबुद्धि है वहाँ परिणाम में (विपत्ति) रहती है।

दोहा—शरनागत कहुँ जे तजहिं, निज हित अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि॥

जो मनुष्य अपने अहित का अनुमान करके शरण में आये हुए का त्याग कर देते हैं वे पामर (क्षुद्र) हैं; पापमय हैं उन्हें देखने में भी हानि है, (पाप लगता है)।

दोहा—तब लगि कुशल न जीव कहुँ, सपनेहु मन विश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ, शोक धाम तजि काम॥

अर्थ—तब तक जीव की कुशल नहीं और न स्वप्न में भी उसके मन को शान्ति है जब तक वह शोक के घर काम (विषय व कामनाओं) को छोड़कर श्री रामजी को नहीं भजता।

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा॥

अर्थ—लोभ, मोह, मत्सर (डाह) मद और मान आदि अनेकों दुष्ट तभी तक हृदय में बसते हैं, जब तक कि धनुष-बाण और कमर में तरकस धारण किये हुए श्री रघुनाथजी हृदय में नहीं बसते।

ममता तरुन तिमिरि अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥

अर्थ—ममतापूर्ण अँधेरी रात है, जो राग द्वेष रूपी उल्लुओं को सुख देने वाली है। वह (ममतारूपी रात्रि) तभी तक जीव के मन में बसती है, जब तक प्रभु का प्रताप रूपी सूर्य उदय नहीं होता।

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपण सन सुन्दर नीती॥
ममता रत सन ज्ञान कहानी। अति लोभी सन विरति बखानी॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बए फल यथा॥

अर्थ—मूर्खों से विनय, कुटिल के साथ प्रीति, स्वाभाविक ही कंजूस से सुन्दर नीति। उदारता का उपदेश, ममता में फँसे हुए मनुष्य से ज्ञान की कथा अत्यन्त लोभी से वैराग्य का वर्णन, क्रोधी से शम (शान्ति) की बात और कामी से भगवान की कथा, इनका वैसा ही फल होता है, जैसा ऊसर में बीज बोने से होता है अर्थात् ऊसर में बीज बोने की भाँति यह सब व्यर्थ जाता है।

कादर मन कहु एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा ॥

अर्थ—यह दैव तो कायर के मन का एक आधार यानी तसल्ली देने का उपाय है। आलसी लोग ही दैव-दैव पुकारा करते हैं।

दोहा—काटेंहि पइ कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच।
विनय न मान खगेस सुनु, डाटेंहि पइ नव नीच ॥

अर्थ—चाहे कोई करोड़ों उपाय करके सींचे, पर केला तो काटने पर ही फलता है। नीच विनय से नहीं मानता वह डाटने पर ही झुकता है यानी रास्ते पर आता है।

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ॥
ढोल गवांर शूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

अर्थ—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन सबकी करनी स्वभाव से ही जड़ है। ढोल, गंवार, शूद्र, पशु और नारी (सदाचारहीन स्त्री) ये सब दण्ड के अधिकारी हैं।

दोहा—सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुण-गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जल यान ॥

अर्थ—श्री रघुनाथजी का गुणगान सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों का देने वाला है। जो इसे आदर सहित सुनेंगे, वे बिना किसी जहाज (अन्य साधन) के ही भवसागर को तर जायेंगे।

—: मातृहस्तेन भोजनम् :—

रसोई को विनोबाजी 'फाइन आर्ट' कहते थे। वे हमेशा कहते थे कि रसोई सुस्वादु बननी चाहिए और खाना चाहिए अस्वाद की भावना से। रसोई का स्वाद सिर्फ मिर्च मसाले से नहीं आता है, उसमें जब भाव उड़ेला जाता है, तब मन पसन्द भोजन बनता है। माँ के हाथ से जब बनती है, तब रसोई की प्रत्येक प्रक्रिया में माँ के हृदय का भाव उड़ेला जाता है। उसका वह कर्म उपासनात्मक होता है। इसलिए तो 'मातृहस्तेन भोजनम्' की महिमा गायी जाती है।

● डा० विजयसिंह

सदा शिवस्वरूप मेरे सद्गुरु भगवान

उस दिन भी श्री प्रभुजी का प्रवचन हो रहा था। 'गुरुभक्तों की गति क्या और कैसी होती है?' इसी बात को दृष्टान्तों से, वे परम करुणा-सागर श्री प्रभुजी लोगों को समझा रहे थे। एक गुरुभक्त जिसकी वासनायें समाप्त नहीं हुई थीं, योग-साधन भी वह नहीं करता था, परन्तु उसके मन में सद्गुरु की प्रतीति थी। सद्गुरु उसे साधन के लिए प्रेरित करते, तो वह आज्ञा मानने की पूर्ण चेष्टा करता था परन्तु कठिन संस्कारों के कारण उसके मन की एकाग्रता साथ नहीं दे पा रही थी। कालान्तर में उसके शरीर-पात का समय आया, उसे उसके सद्गुरु दिखलाई पड़े और उसका शरीरान्त हो गया। कुसंस्कारों के परिणामस्वरूप उसे कुत्ते की योनि मिली, परन्तु सद्गुरु कृपा से उसका जन्म बौद्ध-विहारमें हुआ। भिक्षुओं की जूठन एवं क्षमा के बीच वह उस योनि के क्लेश को भोगता रहा। उस योनि में भी उसे अपनी पूर्व योनि का तथा अपने गुरु की कृपा का स्मरण बना रहा। संस्कारों के भुगतान के बाद उसी बौद्ध-विहार के प्रांगण में कुत्ते का शरीर-पात हुआ।

अब उसका वायवीय-शरीर कांतियुक्त होकर स्वर्ग पहुँचा। बड़े काल तक स्वर्गादिक भोगों को भोगकर पुनः उसका मनुष्य योनि में, कुलीन योगनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ। बाल्यकाल से ही सन्तों-महात्माओं के प्रति प्रीति-अर्चना उसके मन में रही। वह ध्यानपरायण हुआ। साधना करते हुए समाधि प्राप्तकर कालान्तरमें उसने भव-बंधन को काट लिया। यों गुरुनिष्ठ शिष्य तीन जन्मों में मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है। वे लोग जो वैराग्य बुद्धि से साधन करते हैं उनका तो कहना ही क्या? सद्गुरु, योगिराज व सिद्धों की रीति-नीति अनोखी हुआ करती है। वे सर्व-समर्थ होते हैं। समुद्र पीकर भी उनके ओंठ सूखे रखा करते हैं। उनका किंचितमात्र भी किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष में राग-द्वेष नहीं रहता।

अपने दायें हाथ को अभय मुद्रा में उठाकर परमात्मा श्री प्रभुजी ने कहा—देखो योगी अपने हाथों से संसार को लाइट देकर लोगों को सत्पथ की राह दिखा कर पीठ फेर लिया करते हैं। महा-योगेश्वर श्री महाप्रभुजी ऐसा किया करते थे। चलते रास्ते वे पांव से दृष्टिपात कर देते। पात्र साधना के शिखर की ओर चल पड़ता, उसे भी कभी ज्ञात नहीं होता था कि यह ज्योति कब और किसने दी। संकीर्तन की लहर कैसे स्वामी गोपालानन्द जी ने फैलायी। सत्संग में श्री महाप्रभुजी के स्वरूप को रखकर नाम का संकीर्तन होता और सैकड़ों लोग ध्यानस्थ हो जाते थे। आगे चलकर लोग देवी-देवताओं के चित्र रखकर परम्परा को निभाने लगे।

(मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि उन अमानी श्री प्रभुजी ने विश्व मंच पर जीवों के उद्धार के लिए कितनी बड़ी लहर आज पैदा करदी है। परन्तु संसार उनसे अब भी लौकिक रूप में अपरिचित ही है। योगीराज देवरहा बाबा ने कहा था—हर आध्यात्मिक दुकानों में बैठा, हल्दीकी गाँठ तो महाप्रभुजी की ही है।)

उसी दिन हम सबके परमात्मा श्री प्रभुजी एक विशेष बात पर जोर देकर कह रहे थे कि "योगी होत निखट्टू"। खटना शब्द का अर्थ है शरीर, मन, प्राण तक से कर्मों में लिप्तायमान न होना। निखट्टू का अर्थ हुआ निष्काम भावित होना। योगी का रंच मात्र भी इस जगत में कोई कर्म शेष नहीं होता फिर भी वे शास्त्रविहित कर्म निष्काम भाव से जगत् में आदर्श स्थापना हेतु करते ही रहते हैं। अपने श्री प्रभुजी का नाम रहा चन्द्र+मोह+न। अर्थात् जिसे रंचमात्र भी मोह न हो। वे श्री प्रभुजी हम जागतिक जीवों के लिए पथ-प्रदर्शन हेतु काम में जुटे रहे। अपने को कलछी ही बताते रहे, योग का मात्र चौकषा सिपाही बताते रहे।

अनाथ-नाथ संकेतों से बोध कराते हुए भी हम पामरों को छोड़कर अपने नित्य धाम पधार गये। उनकी कृपा की कथा जो हम सभी के साथ प्रतिपल अतीत में घटित हुई और होती आ रही है, कोई प्रज्ञावान ही कुछ अधूरी-पूरी वर्णित करने में सक्षम होगा। मुझ पामर की क्या शक्ति क्या गति ?

वह अनोखी रात्रि—

उस दिन भोजनोपरान्त सवाई धाम में बिजली चली गई, तब जनरेटरों की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। श्री प्रभुजी विश्राम हेतु गुरुसदन में चारपाई पर लेट चुके थे। स्वयं मैं और एक गुरुभाई बारी-बारी से पंखा झल रहे थे। रात्रि में क्रम से पंखा झलते रहने का निर्णय हम दोनों ने ले लिया था। उस भाईने कहा—आप सो जाओ यहीं पर, मैं उठा लूंगा। थक जाने पर अन्तिम पहर में मुझे इशारे से जगाया। मैं उठकर पंखा झलने लगा। थोड़ी-ही देर के बाद एक अजीब तीव्र इत्र की खुशबू का झोंका-सा महसूस हुआ। मैं चौकन्ना होकर कमरे में इधर-उधर ताकता पंखा झलता ही रहा। वह गन्ध जैसी आयी थी वैसे ही यकायक विलुप्त हो गई। मैं पुनः एकाग्र मन से श्री प्रभुजी पर विजन डुलाता रहा। अचानक पुनः दिव्य-गन्ध पूरे तन-मन को आप्लावित करती, विभोर करने लगी। अब मुझे आभास हुआ कि कहीं यह गंध श्री प्रभुजी की काया से तो नहीं आ रही है। ऐसा सोचकर थोड़ा चारपाई के नजदीक आकर मैंने प्रभुजी के निकट होकर गन्धान्वेषण करना चाहा लेकिन वह गंध नहीं मिली परन्तु श्री प्रभुजी निद्रा से जागने का अभिनय कर बोले—लल्ला ! अब पंखा झलना बन्द कर दो। प्रातः होने के कारण अब गर्मी नहीं है।

मुझे उस गन्ध की स्मृति बनी रही। यह समस्या "चैतन्य चरितावली" के पढ़ने पर हल हुयी। योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण के शरीर से दिव्यगन्ध का स्फुरण होता रहता था। गोपियाँ और साधक वैष्णवों को उस गन्ध का भान था। जो योगी काम, क्रोध आदि षट्विकारों को जीतकर तत्वज्ञ हो जाते हैं उनके शरीर से ऐसी गंध का स्फुरण होता रहता है, मुझ जैसे पतित को अपने श्री चरणों में आकर्षित करने हेतु ही उस दिन रात्रि में वह कृपा उन कृपानिकेतन ने की होगी। वर्षों बाद उस गन्ध का पुनः बोध उतने ही अल्पकाल के लिए उस समय हुआ जब "गुरु भवन" में

अस्थिकलश को प्रणाम करने गया। मानो प्रभु अदृश्य से प्रेरित कर कह रहे हों—

'कालेनानवच्छेदात्'

अर्थात्, सद्गुरु कालातीत हैं। मनसा-काया शुद्धि न होने से ऐसे दिव्य-गन्ध का भार जीव नहीं उठा सकता। साक्षात् नारायण के शरीर का दिव्य-गंध नारकीय हम जीव कैसे सह सकते हैं। महाप्रभु चैतन्य की क्या दशा हो गई थी यह देखें—

सेई गन्ध वश नासा, सदा करे गन्धेर आशा।
कभू पाय, कभू ना पाय॥
पाइले पिया पेट भरे, पिङ पिङ तब करे।
ना पाइल तृष्णाय मरि जाय॥
मदन मोहन नाट, पसारि चान्देर हाट।
जगन्नारी ग्राहक लोभाय॥
बिना मुल्ये देय गन्ध, गन्ध दिया करे अन्ध।
घर याइते पथ नाहि पाय॥
एइ मत गौरहरि, गन्धे केल मन चुरि।
भृंग प्राय इति उति धाय॥
जाय वृक्ष लता पाशे, कृष्ण-स्फुरे सेइ आशे।
गन्ध न पाय, गन्ध मात्र पाय॥

गौराङ्ग को श्रीकृष्ण के अङ्ग की उस दिव्य गंध ने अपने वश में कर लिया है। वह सदा उसी गंध की आशा करते हैं। कभी वह गंध पा जाते हैं और कभी नहीं भी। वे वृक्ष, लताओं में श्रीकृष्ण की झलक पा वहाँ दौड़े जाते हैं कि श्रीकृष्ण मिल जायें, वहाँ तो नहीं मिलते, केवल उनके शरीर की दिव्य गंध ही वहाँ मिलती है।

वह दिव्य प्रात:

प्रयाग राज में उन दिनों सदा शिवस्वरूप सद्गुरु भगवान विराजमान थे। संगम के तट पर भव्य कुटीर आश्रम में सत्संगी गुरु भाई-बहनों का जमघट था। प्रात: बेला में सभी लोग उन दिनों श्री प्रभुजी के साथ ही झूंसी की ओर नित्य क्रिया सम्पन्न करने जाया करते थे। वह मेरे जीवन का परम पुण्यमय दिन था। अहैतुकी कृपानाथ कैसे अपना प्रेम की परतीति पामर से पामर जीव को अव्यक्त रहकर करा दिया करते हैं। एक तख्त पर बैठकर श्री प्रभुजी दन्तधावन कर रहे थे। हम सभी सम्मुख थोड़ी दूर अर्ध चंद्राकार में खड़े हुए प्रभुजी की ओर निहार रहे थे। अचानक सम्पूर्ण मेला क्षेत्राकाश आगे-पीछे चतुर्दिक दिव्य रजत ज्योति से प्रभासित हो उठा। ज्योति स्थिर भाव से श्रीप्रभुजी से निःसृत होकर सम्पूर्ण दिशाओं को आलोकित कर उठी। मैं विस्मित-सा देखता रहा। कब तक वह अखण्ड परमतेज दीखता रहा पता नहीं! बोध हुआ जब लीलाकौतुक श्री प्रभुजी की वाणी लौकिक गति को लिये हुए कानों में पड़ी—चलो सभी अब स्नान करने। सब सामान्य था। सहज हो चुका था। ऐसे कौतुक वे कृपासागर अपने बालकों को अपनी अनुकम्पा से करते-कराते रहते हैं।

वे सर्वसमर्थ परमेश्वर स्वतन्त्र ईश्वर हम पामरोंको सद्बुद्धि दें। अपने अलौकिक बोध से हर समय अन्तःकरण को मण्डित किये रहें। आप अब भी उसी प्रकार अपने चाहने वालों अन्तर में विराजमान हैं। आपका अदर्शन हम सभी के परम पुण्य के अवसान के कारण ही है। जो भी आपके प्रदर्शित पथ का अनुसरण करने वाले हैं उनके हेतु आपका अदर्शन हुआ ही नहीं है। हम सभी असमर्थ के सामर्थ्य आप ही हैं। जो कुछ भी करणीय है आप ही उसके कर्ता हैं। हे परमशिव सद्गुरुदेव हर स्वाँस आपके चरणों में समर्पित होता रहे ऐसी ही अनुकम्पा अपने दासानुदास पर बनाये रखें।

● श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए., आचार्य

मन से अमन-चैन कैसे ?

मन को अपना मित्र बना लिया जाय तो अमन-चैन का जीवन होने में देर नहीं लगती। मन जब तक तो इन्द्रियों के द्वार पर खिलवाड़ करता फिरता है तब तक कर्मजाल का संचय करता रहता है। जब उनसे हटकर चित्त और बुद्धि के द्वार की ओर प्रयाण करने लगता है तो मन की शरारतें कम होती जाती हैं। मन की जब एकाग्रता सध जाती है तो मन मन नहीं रहता, शक्ति पुञ्ज और वेद मन्त्रों में वर्णित 'ज्योतिषा ज्योतिरेकः' अर्थात्, प्रकाश पुञ्ज बन जाता है। मन जब मन्त्र से जप और प्राणायाम, ब्रह्मचर्य, निःसंगता, द्वन्द्व सहन आदि तप के बीच में रहकर कार्य करने लगता है तो इसके कुत्सित संस्कार उसी प्रकार छूट जाते हैं जिस प्रकार पुटपाक कर स्वर्ण को अग्नि में दग्ध करने से उसकी मलिनता नष्ट हो जाती है और उसमें नैसर्गिक चमक पुनः आ जाती है। यदि मन को मनमानी करने दी जाय तो यह सर्वनाश कर डालेगा। ,किसी सन्त ने ठीक ही कहा है—

मन की गति अति अटपटी,
चटपट लखै न कोय।
जो मन की खटपट मिटै,
चटपट दर्शन होय ॥

सच तो यह है मन की खटपट मिटे बिना चौरासी लाख योनियों में भटकने का कभी अन्त होने वाला नहीं, इसलिए मन को अमन बनाना होगा। मन जब मन नहीं रहेगा तो (अ=नहीं, मन=खटपट-स्वभाव वाला), जीवन में शान्ति और सन्तोष का साम्राज्य उतर आयेगा। हमारे ऋषियों ने उपनिषद् एवं गीता के माध्यम से इसीलिए हमको यह सन्देश दिया है कि इन्द्रिय रूपी घोड़ों की मनरूपी लगाम बुद्धिरूपी रथ में स्थिति सद्गुरु रूपी सारथी के हाथ में सौंप-कर अपनी जीवन रूपी गाड़ी को चलाओगे तभी यह गाड़ी तुम्हें वहाँ ले जायगी जहाँ अनन्त सूर्यों का प्रकाश है। जिस देश में कभी अन्धकार नहीं रहता। अर्थात् जहाँ अज्ञान और माया का खेल ही नहीं चलता।

मन को अ-मन बनाने के लिये मन को इन्द्रियों के विषयों से मोड़कर आत्मा की ओर लौटाना पड़ेगा। मन जिसका है उसीको उसे करना है। अज्ञान, भ्रम, मोहवश मन अपने घर को भूलकर इन्द्रियों और विषयों की गुलामी करता फिरता है। उसे अपने सच्चे घर की जब कभी याद आती भी है तो प्रकाश के अभाव में अपना रास्ता सूझता नहीं। जाये तो जाये कहाँ। कोई-कोई भाग्यशाली सद्गुरु की शरण में जाकर अपने असली घर की खोज के लिए आर्त भाव से

विनयपूर्वक प्रार्थना करता है। श्री सद्गुरु करुण-कृपा से अपनी शक्तिपात कृपा का ज्ञानदीपक साधक के हाथ में रख देता है, साधक सद्गुरु द्वारा बताये साधन का श्रद्धा, विश्वास और नियमानुवर्तिता पूर्वक अभ्यास करता हुआ एक दिन अपनी मंजिल पर पहुँच ही जाता है। जो साधक सद्गुरु की शरणागति पूरे मन से नहीं करते वे कच्चे रह जाते हैं। उनका मन उन्हें भ्रम में डालकर फिर चौरासी के चक्कर में डाल देता है। जो साधक अपने निश्चय और अपनी लगन के पक्के होते हैं उनका मन उनका मित्र बन जाता है और वह उन्हें सन्मार्ग की ओर (विवेक एवं वैराग्य की ओर) ले जाता है। ऐसा तभी हो पाता है जब साधक अपनी मनमानी न करके श्री सद्गुरुदेव की आज्ञा को सर्वोपरि स्वीकार कर अपने अभ्यास में तत्पर बना रहता है। जो साधक अपने मन को विषय सुख में रमने देते हैं उन्हें सन्तों ने 'मनमुख' कहा है और जो धीर, दृढ़निश्चयी साधक अपने मन को श्री सद्गुरु को सौंप देते हैं उन्हें 'गुरुमुख' कहा जाता है।

जब तक मन 'गुरुमुख' नहीं होता तब तक एकाग्र नहीं हो सकता। धारणाध्यान समाधि की उपलब्धि 'गुरुमुख' होने पर अनायास हो जाती है। जिसका नमन का स्वभाव है वह एक दिन सब कुछ पा जाता है। नमन करने से ही अमन बनता है। अहंकार का विसर्जन ही तो नमन करना है। गुण-दोष सभी कुछ श्री गुरुदेव के चरणों में समर्पित हो जाँय, अपनी इच्छा कुछ भी न रहे तो नमन करना सार्थक होता है। नमन केवल शरीर की बाह्य क्रिया नहीं है अपितु मन और हृदय की स्वीकृति है, समर्पण है, अपितु मन और हृदय की स्वीकृति है, समर्पण है अपने अहंकार का सर्वशक्तिमान सद्गुरुसत्ता के प्रति। ईश्वर और सद्गुरुसत्ता दो पृथक् चीजें नहीं हैं एक में ही दोनों हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में नमन के महत्व को संकेत में समझाया है—

सततं कीर्तयन्तो मां
यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या
नित्ययुक्ता उपासते॥

—गीता ९/१४

अर्थात्, जो निरन्तर प्रभु की ओर दृष्टि रखकर उसका स्मरण करते हुए दृढ़ निश्चय के साथ प्रभु मिलन के लिए साधना करते हैं तथा भक्ति पूर्वक अपने इष्ट को नमन करते हुए प्रति श्वास से प्रभु का स्मरण करते हैं। इसी प्रकार इसी अध्याय के अन्त में आत्म-साक्षात्कार के उपायों का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान गीता में कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव-
मात्मानं मत्परायणः॥

—गीता ९/३४

अर्थात्, अपने मन को मुझे सौंपकर अपनेपन के अहंकार से रहित होकर मेरे मन वाला बन। संसार और परमात्मा में बँटवारा कर तू संसार का न होकर प्रभु की ओर रहने लग। यही प्रभु की भक्ति है। सारे कर्म प्रभु को समर्पण करना ही प्रभु की पूजा करना है। अनादि सद्गुरुसत्ता ही परमात्मा रूप है, उसे सदा नमन कर। इस प्रकार मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सभी कुछ बचेगा ही नहीं फिर तो वह प्रभु को ही प्राप्त हो

जायेगा। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—यह भाव स्वतः निष्पन्न हो जायगा।

गीताके अठारहवें अध्याय में पुनः अत्यन्त गोपनीय मन्त्र के रूप में इन्हीं उपायों का उपदेश किया गया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु
मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति
ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते
प्रति जाने प्रियोऽसि मे॥

—गीता १८/६४-६५

अर्थात्, भगवान अर्जुन रूपी अपने अत्यन्त प्रियतम साधक को परम कल्याणकारी एवं अत्यंत रहस्यपूर्ण वचन पुनः कहते हैं। ये वचन पहले नवे अध्याय में भी कहे थे। पुनः प्रतिज्ञापूर्वक उनको दुहराते हैं। अर्जुन उनका प्रिय मित्र और शिष्य है, अतः भगवान ने तत्व और रहस्य की बात स्पष्ट पुनः उसके समक्ष रखी है। इसके पहले भगवान कह चुके हैं कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से उन्हें नाना योनियों में घुमाता रहता है। अतः मंत्र के मालिक की शरण में जाने पर परम शांति प्राप्त हो सकती है। सारतत्त्व का ज्ञान देकर भगवान कहते हैं—'यथेच्छसि तथा कुरु' अर्थात्, जो कुछ सत्य का ज्ञान था वह मैंने तुझे दे दिया अब जैसी तेरी मर्जी हो वैसा कर।'

इस कथन के बाद भगवान को लगा कि कहीं यह 'मनमुख' न बन जाय और अब तक का सारा (शक्तिपात) प्रयत्न कहीं व्यर्थ न हो जाय। अतः भगवान उसे गुरुमुख बनने का अभ्यास बताते हैं। और यही अर्जुन रूपी साधक के कल्याण का वह मार्ग है जिसमें मन फिर मन नहीं रहता। आग में पड़कर लोहा आग ही बन जाता है। नमन करने से मन अमन बन जाता है। मन का समर्पण और मन में प्रभु का प्यार पैदा करना तथा मन से प्रभु का स्मरण करना, कर्मफल मन से प्रभु को समर्पित करना, साधक को इस योग्य बना देता है कि यह जीव अपने शाश्वत शान्तिमय परमधाम को प्राप्त कर लेता है।

संसार केवल दुःखमय नहीं

दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक होने से भी संसार दुःखरूप नहीं है। परमेश्वर ने अपने लिये नहीं, जीव के कल्याण के लिए—उसके 'भोगापवर्ग' के लिए सृष्टि की रचना की है। आनन्दस्वरूप परमेश्वर की रची हुई सृष्टि में दुःख हो—आनन्द कहीं हो ही नहीं—यह कैसे सम्भव है? दुःख को नकारा नहीं जा सकता। किन्तु दुःख को सहते हुए भी मनुष्य मौत को भगाकर यहाँ जीना चाहता है। ऐसा क्यों है? इसलिए कि संसार में दुःख की तुलना में सुख कहीं अधिक है। वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों हैं। दोनों सापेक्ष हैं। सुख, भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का अंश है जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है।

—'अनासक्त दर्शन' से

● श्री रामानन्द 'दोषी'

–: मस्त योगी :–

आँधियों ने गोद में हमको खिलाया है, न भूलो,
कंटकों ने सिर हमें सादर झुकाया है, न भूलो !
सिंधु का मथकर कलेजा हम सुधा भी शोध लाए,
औ हमारे तेज से सूरज लजाया है, न भूलो !

वे हमीं तो हैं, कि इक हुंकार से यह भूमि काँपी,
वे हमीं तो हैं, जिन्होंने तीन डग में सृष्टि मापी ।
और वे भी हम, कि जिनकी सभ्यता के विजय-रथ की,
धूल उड़कर छोड़ आई छाप अपनी विश्वव्यापी ।

वक्र हो आई भृकुटि तो ये अचल नगराज डोले,
दस दिशाओं के सबल दिक्पाल ये गजराज डोले ।
डोल उठी है धरा, अम्बर, भुवन, नक्षत्र मण्डल,
ढीठ अत्याचारियों के अहंकारी ताज डोले ।

सुयश की प्रस्तर-शिला पर चिह्न गहरे हैं हमारे,
ज्ञान-शिखरों पर धवल ध्वज-चिह्न लहरे हैं हमारे ।
वेग जिनका यों कि जैसे काल की अंगड़ाइयाँ हों,
उन तरंगों में निडर जलयान ठहरे हैं हमारे !

मस्त योगी हैं, कि हम सुख देखकर सबका सुखी हैं,
कुछ अजब मन है, कि हम दुख देखकर सबका दुखी हैं ।
तुम हमारी चोटियों की बर्फ को यों मत कुरेदो,
दहकता लावा हृदय में है, कि हम ज्वालामुखी हैं ।

लास्य भी हमने किए औ' तांडव हमने किए हैं,
वंश मीरा और शिव के, विष पिया है औ' जिए हैं ।
दूध माँ का, या कि चन्दन, या कि केसर जो समझ लो,
यह हमारे देश की रज है, कि हम इसके लिए हैं ।

● श्री नूतन शर्मा, मेरठ

दुहाई–गुरुदेव दुहाई है

चीर तुमने ही बढ़ाया है,
लाज तुमने ही बचाई है।
बचालो लाज हमारी भी,
दुहाई–गुरुदेव दुहाई है !!

नाव मँझधार में है अपनी,
छूट पतवार गई कर से।
आज गुरुदेव तुम्हारे बिन,
कौन विपदा में सहाई है ।। दुहाई...

छुड़ा लो यम के फन्दे से,
जन्मते-मरते हारे हम।
नहीं कुछ सूझ सका हमको,
खड़ा सिर पर काल कसाई है ।। दुहाई...

कौन तारेगा कि हम हैं हीन
आपकी ही होगी तौहीन।
सम्हाला नहीं अगर हमको,
गुरुजी लोक हँसाई है ।। दुहाई...

जन्म से मरने तक,
नाथ भवसागर तरने तक।
आपकी जिम्मेदारी है,
वेद शास्त्र पुराणों की गवाई है ।।दुहाई....

दुष्ट पापी व कुकर्मी थे,
अगर हम पास नहीं थे।
सोच पर पहले लिया होता,
शरणागत की रक्षा की,
रीति प्रभुजी तुमने चलाई है ।।
दुहाई....

बहाना योग-प्रचार का कर,
तुम्हीं मुझे लेने आये थे।
तुम्हीं ने सद्गुरु महिमा के,
गीत गा-गाकर सुनाये थे ।।
बतालो बीच डगरी में,
बाँह क्यों हमसे छुड़ाई है ।। दुहाई....

★

चिन्तन :—

संकल्प-गङ्गा की सुवम लहरों से टकराती प्राचीन स्मृतियों की ज्ञान-गुफाओं में सिद्धयोगी-सा बैठकर प्रेमशून्य जीवन की शेष घड़ियाँ व्यतीत करना उतना ही आसान है जितना कि ग्रीष्म की लम्बी-दुपहरी में किसी कल्प-तरु की छाया में बैठकर यौवन-वसन्त का चित्र बनाना; अथवा,

प्रेरणा की सरहद् पर घिर जाने वाले सायंकालीन पुष्करावर्त्त मेघों का घोर गर्जन सुनकर वृष्टि का उस प्रलयंकर सृष्टि में लय हो जाना ! —दिनेश नन्दिनी

वासना का लक्ष्य और योग प्राप्ति के उपाय

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

इस अपार किन्तु असार संसार में प्रत्येक प्राणी वासना और कामना के थपेड़ों से प्रतिक्षण परेशान होता रहता है फिर भी मिथ्या, अहंकार वश कामना का जाल बुनता रहता है। अधिक से अधिक सुख-भोग की सामग्री जुटाने के चक्कर में हरिभजन के लिए मिले हुए हीरे से भी बहुमूल्य इस मनुष्य जीवन को आपसी राग-द्वेष, झगड़े, झंझट और अज्ञानजन्य भटकाव में यों ही गँवाकर हारे हुए जुआरी की तरह हाथ झाड़कर दुःख के भार से आक्रान्त हो इस रंगमंच से विदा हो जाता है। इस निराशा भरे संसार में कोई-कोई प्राणी ही सौभाग्यशाली होता है। पुण्य कर्मों के फलस्वरूप आनन्दकन्द श्री प्रभु की कृपा तो बहुत लोगों पर होती है किन्तु अपनी पुरुषार्थहीनता के कारण या तो उस कृपा को पहचान नहीं पाते या मन्द-भाग्य के कारण सन्देह या भ्रमवश होकर उसे समझकर भी कृपासूत्र से अपने जीवन की बहुमूल्य श्वासों के मोतियों की माला भी हर नहीं बना पाते और जीवन में टूटन, बिखराव अनास्था तथा अनिश्चय बना ही रहता है।

नाशवान और दुःखरूप वस्तुओं के साथ मन का मेलजोल अधिक समय तक सुख नहीं दे पाता। मन को जब तक अविनाशी सदा एक रस नित्य चैतन्य परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। जब तक मन में स्थिरता नहीं आती तब तक जप, तप, ध्यान, भजन और समाधि आदि सभी सुख की जगह दुःख ही देते हैं। मन में अनादि काल से वासनायें और कामनायें भरी हुई हैं, वे उसे स्थिर नहीं होने देतीं। कामनायें क्रियाओं और वासनाओं को जन्म देती हैं और इस प्रकार जीवन की नई-नई आवश्यकताओं और उसकी सन्तुष्टि का अनवरत चक्र ही चलता रहता है। मन समस्त संसारके ऐश्वर्य को पाकर भी सन्तुष्ट और स्थिर नहीं होना चाहता। जिसके पास जितना अधिक होता है उसको उतनी ही अधिक भूख होती है। इस विश्व को जो अपने अंश से व्याप्त कर तीन अंशों से अमृतत्त्व में स्थित है उसको देखकर ही यह मन स्थिर हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा अर्जुन के माध्यम से संसार के प्राणियों को बताया है कि—

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वं न संशय॥

—गीता १२/८

अर्थात्, हे जीव ! अपने वासना और कामना के भार से व्याकुल मन को भक्ति-योग से विमुख कर मुझ जगदात्मा की इच्छा में समर्पित कर और समस्त जगत में व्याप्त मुझ परमेश्वर को ही विभिन्न नाम रूप में देख और अपनी बुद्धि में समझ। जिस प्रकार एक मिट्टी से ही अनेक आकार घट बनते हैं और उनके अनेकों रूप और नाम होते हैं किन्तु उनमें एक तत्व मिट्टी ही व्याप्त है। मिट्टी से भिन्न वे कुछ भी नहीं है। अनेकों में रहने वाले उस एक तत्व के दर्शन करने पर यह जीव जगत में रहता हुआ भी ईश्वर में ही रहता है। अर्थात् कर्मफल के परिणाम से दुःख द्वन्द्व से परे परमानन्द अवस्था में रहना सीख जाता है। जहाँ पर कामनायें उसी प्रकार शान्त हो जाती हैं जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में विलीन होने पर अपना नाम रूप छोड़ शान्त हो जाया करती है। मन की स्थिरता के लिए साधना की आवश्यकता है। श्री सद्गुरु के चरणकमल में मन का समर्पण करने से मनरूपी भ्रमर अपनी चंचलता छोड़-कर परम विश्रान्ति का अनुभव करता है। भाग्यशाली हैं वे जिन्होंने अपने मन को गोपियों की तरह अपने सद्गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया है। जिनके मन-मन्दिर में दयासागर श्री सद्गुरुदेव की पावन स्मृति बिजली बन चमकती रहती है, जिनकी वाणी कृपासिन्धु श्री सद्गुरुदेव की कृपाओं का वर्णन करते-करते गद्गद् हो जाती है, जिनके सब कर्म श्री गुरुदेव की परम प्रसन्नता के लिए उनकी आज्ञा के आधीन होकर होते हैं और सभी कर्मों का फल करुणानिधान के पादपद्मों में समर्पित कर जो बेफिक्र रहते हैं। ऐसे सौभाग्यशाली वास्तव में जीवन्मुक्त अवस्था का आनन्द लेना जानते हैं।

धन्य हैं, वे ! जिनकी श्रद्धा गंगा की अजस्रधारा की तरह निरन्तर हृदय को सात्विक भावों की तरंगोंसे आप्लावित करती रहती हैं। जिनका विश्वास हिमालय की भाँति अचल है। फिर क्यों न उनका मन ऋद्धियों, सिद्धियों का आगार हो। जिन्होंने अपना मानकर कुछ रखा नहीं, सर्वस्व करुणाकन्द श्री सद्गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर दिया—उन्हें कामनायें और वासनायें कैसे सता सकेंगी। ऐसे सुकृतियों के लिए ही जगदात्मा श्रीकृष्णने गीता के द्वितीय अध्याय के अन्त में कहा है—

> विहाय कामान्यः
> सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
> निर्ममोनिरहंकारः
> सशान्तिमधिगच्छति ॥
>
> —गीता २/७१

अर्थात्, जो अपनी समस्त कामनाओं को श्री सद्गुरु चरणों में समर्पित कर निस्पृह हो जाता है। फिर उसके लिए कुछ भी 'मेरा' नहीं रहता। मेरेपन के भाव के समर्पण से उसके सिर पर अहंकार के कर्मों का बोझ भी नहीं रहता। जब कर्मों का भार और मतिभ्रम नहीं रहता तो वह शान्ति में स्थित हो जाता है।

चित्त में जब तक नाना कामनाओं का ताना-बाना बुना हुआ है तब तक जीवन में संशय, भ्रम, मोह, लोभ, काम, क्रोध और

भय बढ़ते रहेंगे। चित्त में नाशवान पदार्थों की आसक्ति भी बढ़ेगी। यही वासना और वैर को जन्म देती है। जहाँ 'मेरा' होगा वहाँ 'तेरा' और 'मेरा' होगा ही। अहंकार और ममत्व से राग और द्वेष आयेगा। वासना वैर जीवन और मृत्यु को बिगाड़ देते हैं। जो किसी की चाह नहीं करेगा वह किसी से द्वेष भी नहीं करेगा। प्रशान्त और स्थिर चित्त व्यक्ति सुखी और शान्ति मुक्तावस्था का आनन्द लेने वाला होता है। यह चित्त नाना जन्मों के कर्मसंस्कार के संचय से प्रतिक्षण संकल्प-विकल्प और विषयस्पृहा (वासना) के वश में रहने के कारण चञ्चल रहा करता है। अनेक जन्मों के कर्म-संस्कार से प्रत्येक साधक का विभिन्न प्रकार का स्वभाव बन जाता है। जैसी जिसकी प्रकृति बन जाती है उसी के अनुसार वह व्यवहार किया करता है। मन तुरन्त इन्द्रियों के साथ लगकर विषयों का भोग करता है। भोगपरायण होने से कर्म और प्राणस्पन्दन से सन्ताप तो पैदा होगा ही। जैसे कोई भी यन्त्र घूमता है तो घूमने वाले स्थान पर ताप पैदा हो जाता है। वह सन्ताप बुद्धि को विकल कर देता है। इन्द्रियों को विषयों के प्रति स्वाभाविक राग द्वेष होता है। वह बुद्धि के विचार से दूर होना कठिन है। इसके लिए शास्त्र-श्रवण और साधुसंग आवश्यक है। शास्त्र-चिन्तन तथा संत समागम से त्यागने योग्य और उपादेय विषयों का निश्चय हो पाता है। इससे ही व्यक्ति अपना हित अहित समझ सकता है और सत्संग तथा भगवद् भजन में शुभेच्छा और भावना बलवती होती है। जप और ध्यान से शुद्ध सात्विक नये निष्काम कर्मयोग के संस्कार उत्पन्न होने पर पूर्वजन्मों के रागद्वेष के संस्कारों के प्रवाह का वेग मंद पड़ने लगेगा। आत्मानन्द के नये संस्कारों से स्वभाव परिवर्तन होने लगेगा। योगदर्शन में इस सिद्धान्त को इस सूत्र से स्पष्ट किया गया है—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।

योगदर्शन १/५०

अर्थात् समाधि में एकाग्र एवं सत्व-विशिष्ट प्रज्ञा से जो आनन्दानुगत समाधि के समय नये संस्कार बनते हैं, वे चंचल चित्त के पूर्वार्जित संस्कारों की गति को रोक दिया करते हैं। जैसे किसी व्यक्ति का कोई क्लिष्ट संस्कार प्रबल है, उसके परिणामस्वरूप उसे कठिन रोग है। यदि वह जप, कीर्तन और समाधि के द्वारा चित्त को वासना शून्य एकाग्रता रूपी विशुद्धि से युक्त कर सके तो क्लिष्ट संस्कार भजन के संस्कार से प्रतिबन्धित हो जायगा। उसका भोगकाल और तीव्रता कम हो जायगी। यदि समाधि का अभ्यास दृढ़ है तो सूक्ष्म में उस संस्कार का भोग होकर संस्कार निःशेष भी हो जायगा। जब समस्त शुभाशुभ संस्कारों का योग-ज्ञानाग्नि से निर्बीज समाधि में क्षय हो जाता है तो उस अवस्था को ही कैवल्य या मोक्ष कहा जाता है। शास्त्र और सम्प्रदायों ने मोक्ष के नाना प्रकार माने हैं। जैसे जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति या पारमार्थिकी कैवल्य-मुक्ति।

उसी प्रकार भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों ने सायुज्य और सारूप्य और सामीप्य इस प्रकार मुक्ति के चार विभाग किए हैं। इनमें सायुज्य मुक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

वासना का जन्म

चित्त और मन की चंचलता से वासना का जन्म होता है। चित्त की चंचलता प्राण

के स्पन्दन से होती है। प्राण का स्पन्दन कर्तृत्व भोक्तृत्व के कर्मजन्य अभिमान के कारण होता है। मनुष्य के चित्त में अविद्या और अज्ञान के कारण 'मैं करने वाला हूँ' यह भाव प्रबल होता है। इसके आते ही उसे कर्मफल का भोगने वाला होना पड़ता है। जिसके फलस्वरूप चित्त सुख-दुख का सदा अनुभव करता हुआ क्लेश रूप बंधन से चिपट जाता है। यदि वह अपने स्वरूप को ठीक-समझ ले कि वह कर्ता नहीं है, प्रकृति के गुण अपना कार्य कर रहे हैं, वह चेतन, निर्गुण तथा आनन्दरूप नित्य है, तो वह सुख-दुख रूप चित्त धर्मों से मुक्त हो जायगा। चित्त का एक आत्म-चैतन्य में स्थिर हो जाना ही चित्त शुद्धि है। जब संकल्प और कामनायें विचार द्वारा शान्त हो जायेंगी तो आत्म-चैतन्य का महासागर ही सर्वत्र होगा। एक इसके रहने पर कर्म का अहंकार कैसे रहेगा ? 'जब मैं कुछ नहीं' 'मेरा कुछ नहीं है' यह धारणा दृढ़ हो जायगी तो संकल्प और कामनायें आकाश में शब्द की भाँति विलीन हो जायेंगी। योगवाशिष्ठ में वासना का मूल अविद्या को माना गया है तथा उसके उच्छेद के लिए आत्मभाव का अनुसन्धान बताया गया है। योगिराज वशिष्ठ भगवान राम को समझाते हैं कि—

तस्य चञ्चलता यैषा
 त्व विद्या राम ? सोच्यते।
वासना पदनाम्नी तां
 विचारेण विनाशय॥

अर्थात्, हे राम ! चित्त की चंचलता ही अविद्या है। अविद्या का ही दूसरा नाम वासना है। इसे आत्मविचार से नष्ट करो। आत्मा में सदा अपनी वृत्ति लगाये रखने से विचार में दृढ़ता और एकमुखता तथा एकाग्रता से मन और चित्त की अन्य वृत्तियाँ रुक जायेंगी। वृत्तियों के रुकने से 'अहंवृत्ति' अर्थात् 'मैं करने वाला' और 'मैं भोगने वाला' यह चित्तवृत्ति भी निरुद्ध हो जायगी। अन्तःकरण से 'मैं' और 'मेरा' ज्ञान निरुद्ध होने पर विषय की वासना या उसको प्राप्त करने की कामना और प्रयत्न से मन हटकर अपने कारण मूल-प्रकृति में समाहित होकर शांत हो जायगा। वासना और कामना के क्षय के बिना जीवन का आनन्द नहीं मिल सकेगा। इसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ का अर्थ है, पुरुष के अपने अत्यन्त प्रिय स्वरूप की इच्छापूर्ति अर्थात् प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। पुरुषार्थ से क्या सम्भव नहीं हो सकता ? जैसे व्यापार करते-करते कोई वणिक् अरबों-खरबों का स्वामी बन जाता है। वैसे ही साधना-परायण जीवन अपने स्वरूप का साक्षात्कार भी कर सकता है।

वासना ही यथार्थ ज्ञान में बाधक है। यह वासना तीन प्रकार की होती है—

(१) लोक वासना, (२) शास्त्र वासना, (३) देह वासना।

देह अनादि वासना के कारण ही प्राप्त होती है। हमारा चित्त अनादि वासनाओं से चित्रित रहता है। इसी कारण हमको भिन्न-भिन्न समय में एक ही वस्तु कभी सुखदायी, कभी दुखदायी, कभी उपेक्षणीय प्रतीत हुआ करती है। यद्यपि योगदर्शन के सिद्धान्तानुसार समस्त वस्तु सत्ता प्रकृति के गुणों का परिणाम होने से मूलतात्विक रूप में एकरूप है। दृष्टव्य यह सूत्र—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।

योगदर्शन ४/१४

तथा

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथा।

—योगदर्शन ४/१५

अर्थात्, परिणाम के एक होने से वस्तु की एकता होती है। तथापि चित्त के सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी होने से चित्त और वस्तु का अलग-अलग मार्ग है। जैसे एक सुन्दर स्त्री पति को सुख का अनुभव कराती है, तो अपर स्त्री सपत्नी (सौत) का चित्त उसे देखकर दुःख का अनुभव करता है और एक वैराग्ययुक्त साधु का चित्त उससे उदासीन होता है। कामी पुरुष का चित्त तमोयुक्त होने से उसे देखकर मोह में पड़ जाता है। इस प्रकार त्रिगुणों की न्यूनाधिकता के परस्पर मिश्रण से चित्त में वासनाओं की तरंगें उठती रहती हैं। जब चित्त सत्वगुण प्रधान होता है तो इसमें ज्ञान और प्रकाश होने से शास्त्र वासना प्रबल होती है। जब यह रजोगुण प्रधान होता है तो इसमें क्रियाशीलतायुक्त लोक की वासना प्रमुखरूपेण होती है। जब इसमें तमोगुण प्रधान होता है तो अज्ञान तथा गुरुता, प्रमाद और मोह स्वभाव का विकास होकर देहवासना प्रबल होती है।

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में सूर्य बादल ढक लेता है तो दिन में अन्धकार हो जाता है उसी प्रकार रजोगुण, तमोगुण रूपी मल और सकाम कर्म की वासनायें चित्त के प्रकाश पर आवरण डाले हुए रहती हैं। जिससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं हो पाता। [illegible] मेघ समाधि द्वारा परवैराग्य पुष्ट हो [illegible] है और अविद्या पंचक्लेश तथा पुण्य [illegible] सभी कर्म निवृत्त हो जाते हैं तो [illegible] वासनायें समूल नष्ट हो जाती हैं और चित्त से वासनाओं का पर्दा हट जाता है इस प्रकार क्लेश और कर्मों के नष्ट होने पर योगी जन्म-मरण से मुक्त होकर जीवन्मुक्त होकर विचरता है।

मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है, उसी के अनुसार वासनायें हुआ करती हैं। योगदर्शन के अनुसार कर्म चार प्रकार के होते हैं—

(१) पुण्य कर्म (शुक्ल कर्म),
(२) पाप कर्म (कृष्ण कर्म),
(३) पाप पुण्य मिश्रित (कृष्ण शुक्ल),
(४) निष्काम कर्म (अशुक्ल-अकृष्ण कर्म)।

योगदर्शन का सिद्धान्त है कि योगयुक्त पुरुष के कर्म निष्काम कर्म होते हैं। शेष प्राणियों के कर्म सकाम कर्म होते हैं। कर्म के अनुसार ही वैसे ही फलवाली वासनायें बनती रहती हैं। इस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष के अनेक बीज बनने की तरह कर्म और वासनाओं का चक्र बनता चला जाता है। कुछ वासनायें शुद्ध होती हैं और कुछ अशुद्ध होती हैं। वासनायें चित्त में दो प्रकार के संस्कार उत्पन्न करती हैं। इन शुभाशुभ वासनाओं से पाप-पुण्य के कर्म हुआ करते हैं।

योगदर्शन का सूत्र है—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति-
र्वासनानाम्॥

—योगदर्शन ४/८

कर्मफल के अनुसार वासनायें प्रकट हुआ करती हैं। जैसे मनुष्यजन्म मिलने पर चित्त में मनुष्य की जाति आयु और भोग की जन्म-जन्मान्तर की वासनायें जो स्मृति रूप में थी वे प्रकट हो जाती हैं और पशु, पक्षी, कीट, पतंग के भोग वाली वासनायें चित्त में दबी

पड़ी रहती है। ध्यान की क्रियाओं में जब चित्त में स्मृति के बन्धन शिथिल होते हैं तो अन्य योनियों की दबी हुई वासनायें कभी-कभी प्रकट हो जाती हैं जिससे व्यक्ति का स्वभाव और कर्म पशु पक्षी या जैसी वासना प्रकट हो वैसा बन जाता है।

वासनायें संस्कार रूप में स्मृति में विद्यमान रहा करती हैं। सैकड़ों जन्मों की वासनायें बीजरूप से स्मृति में छिपी रहती हैं। जब अनुकूल अवसर मिलता है तो अनेक जन्मों के संस्कार इकट्ठे होकर जन्म का भोग देने लगते हैं। जैसे जमीन में अनेक प्रकार के बीज छिपे पड़े रहते हैं। वर्षा ऋतु आने पर अनुकूल जलवायु मिलने पर बीज पल्लवित होने लगते हैं। इसी प्रकार कोई अच्छे गुणों वाला व्यक्ति यदि दुर्जनों के साथ रहने लगता है तो धीरे-धीरे स्मृति में विद्यमान जन्मान्तर के दुष्ट संस्कार इकट्ठे होकर अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। जिसके परिणामस्वरूप अच्छा व्यक्ति भी बुरे कार्य करता दिखाई पड़ता है।

योगदर्शन का सिद्धान्त है कि—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।

—योगदर्शन ४/९

अर्थात् स्मृति और संस्कारों का एक रूप होने के कारण अलग-अलग जाति, देश और समय की वासनाओं का व्यवधान नहीं होता है। कोई संस्कार चाहे कितने ही पूर्वजन्मों का है चाहे उनमें कितने ही देश और काल का फासला (व्यवधान) हो, अनुकूल कारण उपस्थित होने पर तुरन्त प्रकट हो जाता है। जैसे संस्कार होते हैं वैसी ही स्मृति होती है। जैसी स्मृति और संस्कार होते हैं वैसे ही कर्म होते हैं। अतः आत्म-कल्याण चाहने वाले साधक को सदा अपने मन को शुभ कर्मों में (जप, कीर्तन, सत्संग, ध्यान, दान, परोपकार) लगाते रहना चाहिए।

वासना क्षय के उपाय

संकल्प जन्य कामनाओं को योग-ध्यान से विरुद्ध कर वासना का नाश करना चाहिए। प्रथम मलिन वासना को छोड़ना चाहिए। क्योंकि मलिन वासना जन्म-मरण के चक्र में घुमाने वाली है। अतः तीव्र संवेग और दृढ़ संकल्प से शुभ कर्मों का प्रथम अभ्यास करना चाहिए। जब मलिन वासना क्षीण हो जायगी तो शुद्ध वासना का उदय होगा। शुद्ध वासना जन्म-मरण के चक्र का नाश करती है।

योगदर्शन का सिद्धान्त है कि वासनाओं का हेतु अविद्या तथा क्लेश कर्म विपाक है। वासनाओं का फल जाति, आयु और भोग है। उनका आश्रय साधिकार चित्त है। वासनाओं का आलम्बन इन्द्रियों के शब्द स्पर्श रूप-रस-गन्ध रूप विषय है। ये अनादि वासनायें हेतु फल, आश्रय और आलम्बन के सहारे फलती-फूलती रहती हैं। अतः तत्त्वज्ञान से अविद्या आदि आश्रय का दग्ध बीज भाव से नाश कर देने से वासनाओं का अभाव हो जाता है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ।

—योगदर्शन ४/११

योगवाशिष्ठ और मुक्तिकोपनिषद् में भिन्न-भिन्न प्रसंगों में योगिराज वशिष्ठ और श्री राम तथा योगेश्वर श्री राम और श्री हनुमन्त लाल के सम्वादों में आत्म-कल्याण के उपायों का विस्तार से विवेचन किया गया है। योगवाशिष्ठ में सार रूप में ये उपाय बताये हैं—

वासनाक्षय विज्ञान
मनोनाश महामते।
समकाल चिराभ्यस्ता
भवन्ति फलदा मताः॥

अर्थात्, तीन उपायों को एक साथ पुरुषार्थ परायण होकर लम्बे समय तक करने से हृदय की ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। जो साधक भोगेच्छा को छोड़कर वासना क्षय, विज्ञान और मनोनाश इन तीनों के लिए दृढ़ता के साथ निरन्तर अभ्यास करता है उसे, समाधि लाभ शीघ्र होता है। भगवान बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि तीनों के नाश के लिए एक साथ प्रयत्न किये बिना साधना में सैकड़ों वर्षों तक साधन करने पर भी सफलता नहीं मिलेगी।

त्रय एव समं यावन्नाभ्य-
स्ताश्च पुनः पुनः।
तावन्न पदसंप्राप्ति
र्भवन्त्यपि समाशतैः॥
—मुक्तिकोपनिषद् २१

संसार-वासना यद्यपि मिथ्या है तथापि जन्म-जन्मान्तर से साथ लगी हुई है अतः बिना तीव्र और लम्बे समय की रगड़ के आसानी से दूर नहीं होगी।

मनोनाश के लिये मन से पहले इच्छाओं को दूर करना पड़ेगा। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा
सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं
विनियम्य समन्ततः॥
—गीता ६/२४

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या
धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा
न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
—गीता ६/२५

अर्थात्, संकल्प से उत्पन्न होने वाली योग के प्रतिकूल सारी कामनाओं का वासनाओं के साथ त्याग करना चाहिए। विषयों में दोष देखकर मन के द्वारा चारों ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों को नियन्त्रित कर योगाभ्यास (ध्यान) करना चाहिए। चंचल प्राण ही मन और इन्द्रियों को नचाता है। प्राणायाम द्वारा प्राण संयमन करने से प्राणस्पन्दन रहित होने पर प्राण का वशवर्ती मन और मन के आधीन रहने वाली इन्द्रियाँ भी चेष्टारहित हो जायेंगी। धारणा और ध्यान से बुद्धि को वश में करके मन को आत्मभाव में निश्चल करके (भगवदर्पित मन एवं बुद्धि) धीरे-धीरे निरन्तर दृढ़ाभ्यास करता रहे। इससे आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, यह भाव दृढ़ हो जायगा।

काम संकल्प प्राण का ही स्पन्दन मात्र है। अतएव प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राण की कुम्भावस्था करने पर ही मन की निरोधावस्था आती है। मन की निरुद्धावस्था से मनोनाश हो जाता है। मनुष्य की भोग-प्राप्ति की चेष्टा ही संकल्प या मन है। यह

भोगेच्छा जीव के प्राण में इकट्ठी रहा करती है। प्राणायाम के द्वारा प्राण शुद्धि होने से भोगासक्ति तिरोहित होती है। तब मन भी शुद्ध हो जाता है। अतः मन में शिवसङ्कल्प ही होते हैं अशुद्ध वासनाके सङ्कल्प नहीं होते। शुद्ध मन से शुद्ध बुद्धि उदित होती है। शुद्ध बुद्धि में ही आत्मा का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। मन का निर्विषय होना ही मनोनाश है। समाधि के समय मन भावातीत अवस्था में चला जाता है। जहाँ पर विषय-चिन्तन होता ही नहीं। उस अवस्था में आत्म-चिन्तन या भगवत्चिन्तन ही होता है। अतः भगवान का उपदेश है कि धारणा, ध्यान समाधि को धीरे-धीरे अभ्यास से पुष्ट करे। यदि साधक अपने अभ्यास की तनिक भी अवहेलना करेगा तो विषय-संस्कार इतने सुदृढ़ होते हैं कि मन विषयों की ओर फौरन दौड़ जायेगा। अतः सोते, जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, हर समय मन को सब ओर से हटाकर केवल आत्मा में ही लगाये रहना चाहिए।

जैसे दीपक में तेल न रहने पर दीपक शांत हो जाता है उसी प्रकार मन में निःसंकल्पता होने पर वासना स्वतः विलीन हो जायगी। यदि मन वासनाहीन हो जाय तो फिर उसको किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं है। वासना से ही प्राणस्पन्दन होता है और प्राण-स्पन्दन से 'वासना' का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार यह बीजांकुर क्रम चलता रहता है। इस चित्त रूपी वृक्ष के दो ही कारण हैं-प्राणस्पन्दन और वासना। 'एकस्मिंश्च तयोः क्षीणेक्षिप्रं के अपि नश्यतः।' अर्थात् प्राण-स्पन्दन और वासना में से किसी एक का नाश हो जाने पर दूसरे का नाश स्वतः हो जाता है। वासना के लिए सरल उपाय है—

असङ्ग व्यवहारत्वाद
भवभावन वर्जनात्।
शरीरनाश दर्शितात्वाद
वासना न प्रवर्तते ॥

मुक्तिकोपनिषद्/४८

अर्थात्, विषयों से अलग रहना तथा संग-दोष का त्याग कर एकान्त सेवन करना, सांसारिक भोगों और कार्यों में आसक्त न होना, शरीर के नाश का चिन्तन करना—इन उपायों से वासना का क्षय हो जाता है। वासनाक्षय से चित्तवृत्ति निरोध होकर योग समाधि प्राप्त हो जाती है। समाधिमें उन्मनी भाव होने से मन अमन हो जाता है। चित्त में मैत्री करुणा, मुदिता और उपेक्षा के भावों का प्रवाह होने से हर समय प्रसन्नता रहा करती है। प्रसन्नता से त्रितापों का नाश हो जाता है। एकतत्व के दृढ़ाभ्यास से मन की वासनाओं का शमन होना ही मनोनाश है। (मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः। ज्ञमनो नाशमभ्येति मनो ज्ञस्य हि शृंखला) मनोनाश का सरल उपाय है श्री सद्गुरुदेव के चरण कमल का सतत चिन्तन करते रहना। दाँतों से दाँतों को दबाकर तथा हाथ से हाथ को कसकर दबाकर शरीरके अन्य सभी अङ्गों को एक सीध में खींचकर स्वस्तिकासन, पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर स्वाध्याय (मन्त्र जप तथा मोक्षशास्त्रों का चिन्तन) करने से मतवाला हाथी जैसा यह मन अंकुश-रूपी उपाय से वश में हो जाता है।

जब चित्त स्पन्दन रहित और मन एकाग्र हो जाता है तब अध्यात्म ज्ञान का उदय होता है जिसे समाधि प्रज्ञा कहते है। इस समाधि प्रज्ञा ही विशिष्ट ज्ञान (विज्ञान है। अपने इष्ट के स्वरूप में मन लगाकर उनका चिन्तन करते हुए गुदा पर प्राण का दबाव देकर प्राण को अपान में मिला दे फिर प्राण को वापिस हृदय में लाकर अपान को गुदा का संकोचन कर ऊपर उठाकर हृदयस्थ प्राण के साथ अपान को मिला दे। इन दोनों क्रियाओं के बीच में प्रथम बाह्य कुम्भक पश्चात् आन्तरिक कुम्भक का अभ्यास करे। प्राण बाहर निकालकर स्थिर बने रहने वाली बाह्य कुम्भकावस्था होती है। अपान को प्राण में मिला देने पर रोककर स्थिर होने की स्थिति आभ्यन्तर कुम्भक है। दोनो प्रकार के कुम्भकों में मनोवृत्ति को इष्ट में लीन रखना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया ही तीव्र संवेग कहलाती है। शास्त्रीय सिद्धांत है कि तीव्र संवेग की अवस्था में मन के द्वारा जैसी भावना की जायगी वैसा ही साधक का चित्त हो जायगा। यदि इष्टदेव की भावना की जायगी तो चित्त में अन्य सभी वासनाओं का अभाव होगा और इष्ट के स्वरूप में मन लीन हो जायगा। सिद्धान्त है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

इस प्रकार एक साथ दोनों के लिए साधना करने वाला अवश्य अपने लक्ष्य को प्राप्तकर लिया करता है। योग-साधक गुरु-देव की अमूल्य योग सम्पत्ति को पाकर अपने को कृतकृत्य करें। योग-समाधि ही उनकी सच्ची सम्पत्ति है।

माँगा कुछ—मिला कुछ

• श्री नानी पालखीवाला

भगवान के पास मैंने बल की मांग की
ताकि सिर ऊँचा रख सकूं,
उसने मुझे कोमलता दी
ताकि मैं नम्र और आज्ञावर्ती रहूँ।

भगवान के पास मैंने दिमाग मांगा
ताकि मैं महान कार्य कर सकूं,
उसने मुझे दिल दिया
ताकि मैं सत् कार्य करूं।

भगवान के पास मैंने धन माँगा
ताकि मैं सुखी बन सकूं,
उसने मुझे ज्ञान दिया
ताकि मैं विवेकी बनूं।

भगवान के पास मैंने सत्ता माँगी
ताकि लोग मेरे सामने झुकें,
उसने मुझे भक्ति दी
ताकि मेरा मस्तक भगवान के सामने झुके।

मैंने जो माँगा वह नहीं मिला
पर जो मिला वह अनमोल मिला
भगवान ने सुनी मेरी नहीं की हुई प्रार्थना।

(श्री नानी पालखीवाला की 'वी दि पीपल' पुस्तक से)

● पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री

धारणा का लक्षण और स्वरूप

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।

मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥ —गोरक्षपद्धति

हृदय में मन को पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच महाभूतों को पृथक्-पृथक् स्थान में धारण करना, 'धारणा' कहलाती है ।

अथवा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

—योगदर्शन-३ पा० १ सू०

किसी योग्य ध्येय देश में चित्त को एकाग्र करना 'धारणा' कही जाती है ।

धारणा के लक्षण में जो पञ्चतत्त्वों का अलग-अलग धारण करना कहा गया है उसका विवरण निम्न प्रकार है :—

पैर से लेकर जानुपर्यन्त पृथ्वीतत्त्व का स्थान है, जानु से नाभि तक जलतत्त्व का स्थान है । नाभि से हृदय तक अग्नितत्त्व का स्थान है, हृदय से भ्रूमध्य तक वायुतत्त्व का स्थान है और भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाशतत्त्व का स्थान है ।

पृथ्वी स्थान—के विषे प्राणवायु को धारण कर 'लं' बीज सहित चतुर्मुखाकार, सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा का ध्यान धरकर "धारणा पञ्चनाडीभिः" इस कथनानुसार पाँच घड़ी तक धारणा करने से साधक के शरीर में रहने वाले सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं और पृथ्वीतत्त्व उसके वश में हो जाता है ।

जल स्थान—के विषे प्राणवायु का निरोध करके 'वं' बीज के साथ नारायण की चतुर्भुजाकार मूर्ति का अनुभव करे । चित्त और प्राण को लय करके पाँच घटी पर्यन्त धारणा करने से जलस्तम्भन करने वाली 'वारुणी' शक्ति की उपलब्धि होती है, यानी जलतत्त्व वश में हो जाता है । इस धारणा के सिद्ध हो जाने पर साधक के लिए जल से ऊपर भूमि पर जैसे चलना तो बायें हाथ का खेल ही होता है, किन्तु साधक के शरीर में प्रविष्ट हुआ कालकूट विष कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता ।

अग्नि स्थान—में प्राणवायु को रोककर 'रं' बीज के सहित त्रिनेत्रधारी, तरुणादित्य के समान तेजस्वी श्री शंकरजी का ध्यान धरकर अनुभव करे । इस प्रकार पाँच घटी पर्यन्त करने से 'वैश्वानरी' शक्ति साधक के वश में हो जाती है । इसलिए उसको कहीं भी और किसी भी स्थान में अग्नि द्वारा जलने आदि का कुछ भय नहीं रहता ।

बल्कि साधक में वह शक्ति हो जाती है कि बिना अग्नि के ही सारी वस्तुओं को वह जला सकता है।

वायु स्थान–में प्राण वायु को रोककर 'यं' बीज के सहित सर्वव्यापक, सर्वान्त-र्यामी, शान्तस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, त्रैकालद्रष्टा ईश्वर (विष्णु) के स्वरूप का अनुभव करे। इस स्थान पर पांच घटी तक अविच्छिन्न वायु के दृढ़ स्थिर होने पर 'वायवी' शक्ति वश में हो जाती है। फल यह होता है कि साधक को आकाश मार्ग में गमन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिसके प्रभाव से वह किसी भी [अपने अभीष्ट स्थान पर पक्षी की तरह उड़कर चला जाया करता है। और वस्तुमात्र ही क्या, सारे जगत् को कुम्भहार की चाक की तरह घुमा सकता है।

आकाश स्थान–में प्राण वायु को स्तम्भित कर 'हं' बीज के सहित आकाश-स्वरूप श्री शंकरजी के स्वरूप का चिन्तन करे। पांच घटी तक इस स्थान पर वायु स्थिर होने लगती है तो 'नभोधारणा' शक्ति पर साधक का अधिकार हो जाता है यानी आकाश तत्त्व वश में हो जाता है। इस धारणा के सिद्ध हो जाने पर मोक्ष का मार्ग खुल जाता है और समस्त रसों के शोषण करने की शक्ति हो जाती है।

जब पांच घटी पर्यन्त धारणा होने लगती है तो भूतों की भावना होती है। परन्तु जिस समय चित्त को एकाग्र करके साधक धारणा अभ्यास करता है तो उस समय में अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं। जैसे—यक्षिणी (डाकिनी) आदि अपना-अपना मनोहर रूप दिखाकर मोहित करना चाहती है, अथवा सिंह व्याघ्र जैसे विकराल रूप दिखाकर डर उपजाते हैं। इन यक्षिणियों का स्वरूप अन्तर्दृष्टि से ही दीख पड़ता है। इसलिए साधक को चाहिए कि इनकी कुचेष्टाओं से न तो मोहित होकर अनर्थ कर बैठें और न कुछ भय ही माने। किन्तु अटल होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाय और यह विश्वास रखे रहे कि ये सब उपाधियाँ योग-भङ्ग करने के लिए दैवी माया है, वास्तव में स्वप्न के समान मिथ्या ही है।

उक्त पाँचों प्रकार की धारणाओं के सिद्ध हो जाने पर साधक को सत्-चित्त-आनन्द का अनुभव होने लगता है और सिद्धों का दर्शन भी। ऐसी अवस्था के प्राप्त होने पर ही साधक ध्यान करने का अधिकारी होता है और षट्चक्रों के भेदन करने की योग्यता पाता है।

बिना एकाग्र-चित्त हुए धारणा का अभ्यास नहीं हो सकता। इस पर योग-वासिष्ठ में इस प्रकार लिखा है :—

सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते !

धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥

अत्यन्त तीक्ष्ण (चोखी) छुरे की धार पर कदाचित् सुखपूर्वक भले ही स्थिर रह सके परन्तु विक्षिप्त चित्त वाला मनुष्य योग की धारणा को सिद्ध करले यह नहीं हो सकता इसलिए प्रमाद को त्याग कर गुरु के बताये हुए मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलकर पंच विधि धारणाओं को सिद्ध करे।

(शेष पृष्ठ ४७ पर पढ़िए)

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

स्वामी विरजानन्द सरस्वती

बहुतों की धारणा होती है कि सद्गुरु के पास मन्त्रदीक्षा ले लेने से उनकी कृपा से सब दुःख दूर हो जायेंगे। सब असाध्य रोग हट जायगा, मन के माफिक नौकरी लग जायगी, सब संसारी सुख-सम्पत्ति भी मिलेगी, कन्याओं को चिन्ता के बोझ से छुट्टी मिल जायगी, स्कूल-कालेज की परीक्षाओं में पास हो जायेंगे, कचहरी के मामले जीत जायेंगे, रोजगार की उन्नति होगी, संसार की ज्वाला-यन्त्रणा-अशान्ति दूर हो जायगी, शनि की दशा कट जायगी, और इसी तरह क्या-क्या न हो जायगा! उनको मालूम होना चाहिए कि दीक्षा या धर्मलाभ के साथ इन सब संसारी फायदे के कार्यों का तनिक भी सम्बन्ध नहीं। और इन सबके लिए गुरु के पास ऐसी मूर्खतापूर्ण माँग पेश करना महा हीनता है और यह धर्मभाव का लक्षण तो है ही नहीं। गुरु का आशीर्वाद पात्रानुसार फलीभूत तो होता है पर उन्हें इन सबके लिए हैरान करना, दबाव डालना तो सबसे बड़ा अन्याय है। इसमें उनके आशीर्वाद देने की अपेक्षा उनका नाराज होना ही ज्यादा सम्भव है। उनके साथ तो, एकमात्र पारमार्थिक लाभ का सम्बन्ध रखना ही उचित रहता है।

× × ×

सकाम भाव से सेवा या उपासना तो केवल दूकानदारी है, उससे ठीक-ठीक धर्मोपलब्धि नहीं होती। जो फलप्राप्ति भी होती है वह अति सामान्य, तुच्छ, अस्थायी और सहज ही नष्ट हो जाने वाली होती है। सकाम उपासना से चित्तशुद्धि नहीं होती और न उससे भक्ति-मुक्ति, शान्ति या आनन्द की प्राप्ति होती है। भगवान श्री राम-कृष्ण सकाम भाव से दी हुई वस्तु ग्रहण करना तो दूर, छू तक नहीं सकते थे।

× × ×

(पृष्ठ ४६ का शेष)

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय ! धारणासु यथाविधि ।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति ॥ —मोक्षधर्म

हे कौन्तेय ! जो मनुष्य विधिपूर्वक यौगिक धारणा को अभ्यास द्वारा सिद्ध कर लेता है वह संसार में जन्म, मरण, सुख और दुःख को समूल नष्ट कर देता है। अर्थात उसे फिर बारम्बार जन्म लेने और मरने की आवश्यकता नहीं रह जाती तथा दुःखमय क्षणिक सुखों के थपेड़े नहीं सहने पड़ते, किन्तु मोक्षधाम में जाने के लिए अकंटक राजमार्ग प्रस्तुत रहता है।

यदि उन्हें इसी जीवन में प्राप्त करना हो तो अपने समस्त शक्ति-सामर्थ्य के साथ साधन-भजन करना पड़ेगा, उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण करना होगा, सोलह आने से ऊपर भी, जो सम्भव हो वह दे देना होगा। श्री रामकृष्ण देव रुपये में पाँच चवन्नी, पाँच आने भक्ति-विश्वास की बात कहते थे। वह ऐसा था जैसे पात्र मुँह तक इतना भर जाय कि ऊपर से नीचे तक खूब छलकने लगे। ऐसा कितनों का होता है? फिर भी निराश होने का कोई कारण नहीं। अपनी शक्ति के अनुसार यथासाध्य करते चलो। समझना कि चाहे जितना करो, उनकी प्राप्ति के लिए यह सब कुछ नहीं के बराबर है, उनकी कृपा के बिना कुछ भी होने को नहीं है।

× × ×

सद्गुरु की कृपा उस पर ही होती है जिसे वे देखते हैं कि वह शक्ति भर कर रहा है, अपने को बिल्कुल भी बचाकर नहीं चलता, भयानक तरंगों में पड़ जाने पर भी पतवार नहीं डाल देता, जो खुद ही डूबने के बाद समझ पाया है कि उनकी कृपा के सिवा, स्वप्रयत्न से कुछ प्राप्त कर सकना असम्भव है। जब उसे चारों ओर घोर अन्धकार दिखता है, कोई कूल-किनारा नहीं, अत्यन्त थक जाने से और अधिक तैरने में असमर्थ होकर, बार-बार डुबकी खाते-खाते अन्त में पूर्णतः डूब जाने लायक हो जाता है, उसी समय वे उसे अपने करकमलों से उठा लेते हैं, उसे जन्म-मृत्यु के उस पार ले जाते हैं जहाँ अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति विराज रही है—जिस आनन्द का लेशमात्र पाकर जीव अपने को परम सुखी समझता है।

× × ×

संसार से इतना डरने पर कैसे चलेगा? वीर होने की जरूरत है, संसार को तुच्छ समझना चाहिए। मैं अत्यन्त दुर्बल, हीन और नाचीज हूँ, मुझसे कुछ नहीं बनेगा, मैं कुछ नहीं कर सकूँगा—ऐसे भावों को पूर्णतः न हटा सकोगे तो कभी भी कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकोगे। इन सब भावों को मन से झाड़कर फेंक दो और वीर के समान कहो, 'मेरे लिए असाध्य ही क्या है?—मैं अमृत पुत्र हूँ, अमरत्व प्राप्त करना मेरा जन्म सिद्ध हक है, संसार की कोई भी शक्ति मुझे उससे वंचित नहीं कर सकती।"

× × ×

जब कभी भी मन में दुर्बलता या अवसाद भाव का उदय हो, इस श्लोक को बार-बार पढ़ने लगो—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्त-स्वभाववान्॥

मैं देवता हूँ, अन्य कुछ नहीं; मैं साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हूँ—शोक मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकता। मैं सच्चिदानन्दघन स्वरूप—नित्यमुक्त-स्वभाव हूँ। ॐ तत् सत् ॐ।

पूज्य श्री गुरुदेवजी का जन्म-दिवस समारोह

१८ अक्टूबर सन् १९९१, शुक्रवार

तदनुसार विजयदशमी सम्वत् २०४८ वि० को सिद्ध गुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई धाम पर बड़े उल्लास और हर्ष के साथ मनाया जायेगा। सभी गुरु भाई-बहिन और योगप्रेमी साधक इस पावन अवसर पर श्री गुरु-पूजन हेतु सादर आमंत्रित हैं। इस दिन प्रातःकाल यज्ञ के साथ कार्यक्रम प्रारम्भ होगा। तत्पश्चात् संगीत तथा गुरुतत्व के महत्व पर प्रवचन आदि होंगे। रात्रि को सांस्कृतिक कार्यक्रम होगा।

निवेदक :

ब्र० सत्येन्द्र, ब्र० रामआश्रय

एवं आश्रमवासी ब्रह्मचारी

योग सिद्धान्तों का समर्थक और प्रचारक

सिद्धयोग

(उच्चस्तरीय दार्शनिक हिन्दी मासिक)

संस्थापक :

ब्रह्मलीन योगयोगेश्वर

अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रकाशन स्थल :

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सिद्धपीठ सवाई धाम, (आगरा)

गत २४ वर्षों से नियमित प्रकाशित

आप भी इसके ग्राहक-परिवार के सदस्य बनकर गुरुदेवजी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने में अपना सक्रिय सहयोग दीजिए।

वार्षिक मूल्य ४५) रु० पेशगी

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

—गीता ६/४६

अर्थात्

योगी—तपस्वी, कर्मकांडी और शास्त्रज्ञानी आदि सभी से बड़ा होता है। इसलिए हे अर्जुन तू योगी बन।

योगी जीवन के इस बड़प्पन को आप किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, इसे जानने के लिए 'सिद्धयोग' का नियमित रूप से पढ़ना जरूरी है।

'सिद्धयोग' का प्रत्येक पृष्ठ आपको तथा आपके परिवार के प्रत्येक सदस्य को चाहे वह बाल, युवा अथवा वृद्ध ही क्यों न हो, सुखी और शाश्वत आनन्द की प्राप्ति की नई दिशा और आयाम देगा।

★

SIDDHAYOGA—Regd. No. L AG. 008, OCTOBER, 1991

प्रेषक कार्यालय :—

सि द्ध यो ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book–Post

श्री ....
....
....
....

स्वच्छ बुद्धि का महत्व

बुद्धि किसी के पास कम या ज्यादा है इसका महत्व नहीं है। महत्व स्वच्छ बुद्धि का है। आग की छोटी-सी चिनगारी भी कार्यकारिणी हो सकती है। वह कपास के ढेर को जला सकती है। इसके अतिरिक्त कोयला बहुत बड़ा होने पर भी वह उसके ढेर में दब जाता है। इसी प्रकार बुद्धि के कम या ज्यादा होने का प्रश्न नहीं। शुद्ध बुद्धि की एक छोटी-सी ज्योति या चिनगारी ही पर्याप्त रहती है। यही बुद्धि शक्ति की खूबी होती है, यह शक्ति मन की निर्मल लहर से उसे प्राप्त होती है। मन निर्मल होने पर बुद्धि स्वतः निर्मल और शक्तिशाली बन जाती है। किसी अल्प और अस्वच्छ बुद्धि वाले मनुष्य से राष्ट्र कार्य-संचालन जैसा महान कार्य ठीक से साधा नहीं जा सकता। लेकिन प्रज्ञावान यानी स्वच्छ और प्रखर बुद्धिशाली पुरुष सहज ही बड़े से बड़े कार्यों का संचालन और नियन्त्रण सहज भाव से कर डालते हैं।

—बिनोबा

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसईकलाँ, ताजगंज, आगरा Ph. 360426